VISHVA–JYOTI R. N. NO. 1/57 ISSN 0505-7523
REGD. NO. PB-HSP-01
CURRENCY PERIOD: (1.1.2015 TO 31.12.2017)

६४, ८ नवम्बर –2015

विश्वज्योति

विश्वेश्वरानन्द वैदिक शोध संस्थान

साधु आश्रम, होश्यारपुर

एक प्रति का मूल्य : १० रुपये

संस्थापक–सम्पादक :
स्व. पद्मभूषण आचार्य (डॉ.) विश्वबन्धु

सम्पादक:
प्रो. इन्द्रदत्त उनियाल
(सञ्चालक)

आदरी सह-सम्पादक :
प्रो. त्रिलोचनसिंह बिन्द्रा

उप–सम्पादक :
डॉ. देवराज शर्मा

परामर्शक–मण्डल :

डॉ. दर्शनसिंह निर्वैर
होश्यारपुर

डॉ. (श्रीमती) कमल आनन्द
चण्डीगढ़

डॉ. जगदीशप्रसाद सेमवाल
होश्यारपुर

डॉ. (सुश्री) रेणू कपिला
पटियाला

शुल्क की दरें

आजीवन (भारत में)	:	१२०० रु.	आजीवन (विदेश में)	:	३०० डालर
वार्षिक (भारत में)	:	१०० रु.	वार्षिक (विदेश में)	:	३० डालर
सामान्य अङ्क (भारत में)	:	१० रु.	सामान्य अङ्क (विदेश में)	:	३ डालर
विशेषाङ्क (एक भाग भारत में)	:	२५ रु.	विशेषाङ्क (एक भाग विदेश में)	:	६ डालर

विश्वेश्वरानन्द वैदिक शोध संस्थान, साधु आश्रम,
होश्यारपुर-146 021 (पंजाब, भारत)

दूरभाष : कार्यालय : 01882-223581, 223582, 223606
सञ्चालक (निवास) : 01882-224750, प्रैस : 231353

E-mail : vvr_institute@yahoo.co.in
Website : www.vvrinstitute.com

विषय-सूची

लेखक	विषय	विधा	पृष्ठांक
डॉ० भवानीलाल भारतीय	ऋषि दयानन्द की दार्शनिक दृष्टि	लेख	2
डॉ० सत्यव्रत वर्मा	रामचरितमानस के संस्कृत और फारसी अनुवाद	लेख	5
डॉ० त्रिलोचन सिंह बिन्द्रा	पंडित देवदत्त जी शास्त्री : एक सार्थक व्यक्तित्व	लेख	8
डॉ० महावीर प्रसाद	महर्षि दयानन्द सरस्वती व भगवान् महावीर: एक वैचारिक समरसता	लेख	11
डॉ० रामस्वरूप दुबे	जनतंत्र और नैतिकता	लेख	17
डॉ. स्नेह लता	डॉ: हरिवंशराय बच्चन और उनका साहित्य-जगत्	लेख	23
डॉ० सुरेश आत्रेय	कर्म-महिमा	लेख	28
डॉ० गीता शर्मा	हिन्दी-पत्रकारिता का बदलता स्वरूप	लेख	31
डॉ० सरिता यादव	जीवगोस्वामी एवं अन्य काव्यशास्त्रियों के मत में वर्ण	लेख	35
डॉ० विशाल भारद्वाज	वेदों में विश्व-कल्याण की भावना	लेख	38
कु० शालिनी देवी	भक्त से ही भक्ति की सार्थकता	लेख	41
सुश्री सीमा कुमारी	शंकराचार्य के अनुसार भक्ति	लेख	43
	संस्थान-समाचार		45
	विविध-समाचार		48
	पुण्य-पृष्ठ		49-52

विश्वज्योति

इदं श्रेष्ठं ज्योतिषां ज्योतिरागात्॥ (ऋ. १,११३,१)

वर्ष ६४ होश्यारपुर, कार्तिक २०७२; नवम्बर २०१५ संख्या ८

यद् वदामि मधुमत् तद्वदामि
यदीक्षे तद् वनन्ति मा।
त्विषीमानस्मि जूतिमान्
अवान्यान् हन्मि दोधतः।।

(अथर्व., 12. 1. 58)

मैं (यद्) जो कुछ (वदामि) कहूँ (तद्) वह (मधुमत्) मीठा (वदामि) कहूँ। मैं जब (लोगों की ओर) (ईक्षे) देखूं (तो मीठी आंख से देखूं, ताकि) (तद्) तब (वे भी) (वनन्ति मा) मुझसे प्यार करने लगें। मैं (त्विषीमान्) प्रकाश और (जूतिमान्) प्रेरणा को धारण करूं (और उन) (अवान्यान् हन्मि) दूसरों को मार भगाऊं, जो (हमारे प्रति) (दोधतः) शत्रुता करने वाले हों।

(वेदसार-विश्वबन्धुः)

ऋषि दयानन्द की दार्शनिक दृष्टि

– डॉ० भवानीलाल भारतीय

सत्य यह है कि ऋषि दयानन्द के दार्शनिक विचारों पर बहुत कम ऊहापोह हुआ है। चिन्तकों और विचारकों ने एक धर्म-संशोधक तथा समाज-सुधारक के रूप में तो उनका नोटिस लिया, किन्तु उनके दार्शनिक विचारों पर चर्चा करने के लिए वे बहुत कम समय निकाल पाये। भारत के धर्म-तत्त्व के अध्ययन से यह स्पष्ट होता है कि यहां के प्रत्येक धर्माचार्य, धर्म-संशोधक तथा धर्म-प्रचारक ने किसी न किसी दर्शन का आधार लेकर अपने मत का प्रचार किया। जब आद्य शंकराचार्य ने अवैदिक जैन और बौद्ध मतों के विरुद्ध अपना अभियान चलाया, यहां तक कि शैव, शाक्त, सौर, गाणपत्य, कापालिक आदि विभिन्न देवी-देवताओं को आराध्य मानने वाले सम्प्रदायों का तीव्र खण्डन किया तो उनके पास एक ब्रह्मवाद (अद्वैतवाद) रूपी प्रखर दार्शनिक अस्त्र था। आगे चलकर जब भक्तिमार्ग के प्रवर्तक आचार्यों ने ज्ञान की तुलना में भक्ति को वरीयता देकर विभिन्न भक्ति सम्प्रदायों का प्रवर्तन किया तो उन्होंने भी ईश्वर, जीव, सृष्टि-रचना, मोक्ष आदि दार्शनिक विषयों को लेकर अपने-अपने विचारों के आधार पर विशिष्टाद्वैत, द्वैत, द्वैताद्वैत तथा शुद्धाद्वैत आदि दार्शनिक मतों की स्थापना की।

निर्गुण सन्तों के दर्शन में यद्यपि किञ्चित् अस्पष्टता तथा धुंधलापन दिखाई पड़ता है तथापि उनमें से अधिकांश जीवेश्वर-एक्य सिद्धान्त को मान्यता देते हैं तथा ज्ञान और भक्ति को समान महत्त्व देकर त्याग, तितिक्षा, वैराग्य आदि के आचरण पर जोर देते हैं। निर्गुण सन्तों में विचार सहिष्णुता तथा ग्रहणशीलता विशेष रूप से दिखाई देती है, तभी तो वे अद्वैतवाद और भक्तिवाद जैसे वैदिक-पारम्परिक तत्त्वों को स्वीकार करने में भी कोई संकोच नहीं करते। सूफियों का प्रेम-तत्त्व तथा इस्लाम की एक अल्ला को लेकर कट्टरता भी सन्तों में दिखाई देती है। समसामयिक धर्माचार्यों में ब्रह्मसमाज के आचार्यों का दार्शनिक मत सुस्पष्ट नहीं हो सका। इतना सत्य है कि ब्रह्म मत के संस्थापक

राममोहन राय का सारा जोर वैदिक और औपनिषदिक एकेश्वरवाद के सुदृढ़ प्रतिपादन पर था। उपनिषदों तथा वेदान्त दर्शन पर उनकी कलम चली, किन्तु उन्होंने शाङ्कर अद्वैत का समर्थन नहीं किया। ऋषि दयानन्द के समकालीन देवेन्द्रनाथ ठाकुर में भक्ति की प्रबलता दिखाई पड़ती है जबकि ईसाई चिन्तन से प्रभावित केशवचंद सेन वैदिक-दर्शन से थोड़े हटे दिखाई पड़ते हैं। उन्हें ईसाई सन्तों ने अधिक प्रभावित किया था।

ऋषि दयानन्द के दार्शनिक सिद्धान्तों का अध्ययन आरम्भ करते समय हमें विदित होता है कि संन्यास ग्रहण करने के साथ-साथ उन्होंने अद्वैत वेदान्त प्रतिपादक वेदान्तसार तथा वेदान्त-परिभाषा आदि ग्रन्थों का अध्ययन किया था तथा उनका स्पष्ट झुकाव शाङ्करमत की ओर हुआ था। स्वलिखित आत्मवृत्तान्त में वे कहते हैं- 'यहां चेतनमठ में ब्रह्मानन्द आदि ब्रह्मचारी और संन्यासियों से वेदान्त विषय की बहुत बातें कीं और' 'मैं ब्रह्म हूं' अर्थात् जीव ब्रह्म एक है ऐसा निश्चय उन ब्रह्मानन्दादि ने मुझे करा दिया। प्रथम वेदान्त पढ़ते समय भी कुछ-कुछ निश्चय हो गया था परन्तु वहां (चेतनमठ में) ठीक दृढ़ हो गया कि मैं ब्रह्म हूं।

यह भिन्न बात है कि आगे चलकर जब उन्होंने वेदों, उपनिषदों तथा वेदान्तसूत्रादि का विशद और तलस्पर्शी अध्ययन किया तो वे अद्वैतवाद के प्रति आश्वस्त नहीं रहे। उन्हें शंकर द्वारा प्रतिपादित मायावाद में अनेक न्यूनताएं दृष्टिगोचर हुईं और वे इस निष्कर्ष पर पहुंचे कि ईश्वर, जीव और प्रकृति ये तीन तत्त्व अनादि हैं। ईश्वर सर्वज्ञ, सर्वशक्तिमान्, सर्वसाक्षी, सर्वव्यापक, सर्वान्तर्यामी तथा सर्वद्रष्टा है। जीव जिसे 'आत्मा' कहा जाता है अल्पज्ञ, अल्प शक्तिवाला, एकदेशी, चेतन तथा अणु है। वही कर्मों का कर्त्ता तथा भोक्ता है। अव्यक्त प्रकृति संसार का उपादान कारण है। उसमें हलचल और गति परमात्मा के सान्निध्य से आती है। मूलतः वह जड़ है तथा त्रिगुणमयी है।

ऋषि दयानन्द ने वेदों पर आधारित त्रैतवादी दर्शन का प्रतिपादन अपने ग्रन्थों में सर्वत्र किया है। यों तो उनके ग्रन्थों में दार्शनिक चर्चा सूत्र में पिरोई मणियों की भांति सर्वत्र दिखाई पड़ती है, तथापि विशेषरूप से सत्यार्थप्रकाश के सातवें समुल्लास से आरम्भ कर नवें सम्मुल्लास पर्यन्त भाग में ईश्वर, जीव, सृष्टि-रचना, बन्ध, मोक्ष आदि दार्शनिक मतों की स्पष्ट तथा सतर्क मीमांसा उपलब्ध होती है। ऋग्वेदादिभाष्य- भूमिका तथा वेद-भाष्य में भी प्रसंगोपात्त दार्शनिक विचारों की अभिव्यक्ति दिखाई देती है जबकि अद्वैत वेदान्त की आलोचना में उन्होंने एक लघु ग्रन्थ 'वेदान्तध्वान्तनिवारण' शीर्षक पृथक्शः

लिखा। सत्यार्थप्रकाश के ग्यारहवें समुल्लास में शांकरमत की आलोचना के प्रसंग में उन्होंने ब्रह्मसूत्रों को भूरिश: उद्धृत कर उनके शंकराचार्य द्वारा किये गये अर्थों के दोषों को दिखाया है। सैमेटिक मतों के दार्शनिक विचारों की आलोचना उनके शास्त्रार्थों तथा लेखन में यत्र-तत्र दिखाई देती है। यही उनका दार्शनिक लेखन है।

आर्य समाज का दर्शन का वैशिष्ट्य

यदि सूत्र रूप में कहा जाये तो दयानन्द का दर्शन वैदिक संहिताओं में व्याख्यात दार्शनिक विचारों की समष्टि है। दयानन्द ने मानवीय दर्शन का उद्गम वेदों से माना है तथा परवर्ती उपनिषदों और दर्शनग्रन्थों में अभिव्यक्त दार्शनिक विचारधारा का मूल स्रोत वेदों में देखा है। दयानन्द का दर्शन प्रधानत: यथार्थवादी है जबकि आदर्शवाद के मौलिक तत्त्व उसमें समाविष्ट हैं। इस दर्शन में सन्देहवाद के लिए कोई अवकाश नहीं है और न यह निराशावाद तथा पलायनवाद को प्रोत्साहन देता है। जीवन में आशा, उत्साह, पुरुषार्थ तथा श्रम को प्रोत्साहन देने की प्रवृत्ति दयानन्दीय दर्शन में सर्वत्र दिखाई पड़ती है। दयानन्द का दर्शन मनुष्य को पुरुषार्थ में प्रवृत्त करता है। आगे के पृष्ठों में हम दर्शन के अध्ययन के लिए स्वीकृत निम्न तीन प्रकरणों के अन्तर्गत दयानन्द के दार्शनिक विचारों का अध्ययन करेंगे- 1. प्रमाणमीमांसा 2. तत्त्वमीमांसा तथा आचारशास्त्र।

-3/5 शंकर कॉलोनी, श्रीगंगानगर (राज.)

रामचरितमानस के संस्कृत और फारसी अनुवाद

- डॉ० सत्यव्रत वर्मा

विदेशों में 'हिन्दुओं की बाइबल' नाम से ख्यात गोस्वामी तुलसीदास का रामचरितमानस भारत के मध्यकालीन साहित्य की अनुपम कृति है। जिस युग में 'भाषा' (हिन्दी) की रचना हेय दृष्टि से देखी जाती थी, उस समय तुलसीदास ने हिन्दी की एक बोली अवधी में रामचरितमानस जैसे कालजयी काव्य की रचना की, जो उनकी अद्भुत कवित्व शक्ति तथा दूरदृष्टि का परिचायक है। इस भाषायी क्रान्ति के बावजूद तुलसी का 'मानस' परम्परा के अमृत से परिपूर्ण है। संस्कृत के पूर्ववर्ती विशाल वाङ्मय में जो कुछ उनके काव्य के अनुकूल था, तुलसी ने उसे यथावत् अथवा संशोधित / परिवर्तित रूप में, अपनी महान् कृति में, अवधी की माधुरी में रूपान्तरित कर, आत्मसात् करने में संकोच नहीं किया है। विशेषज्ञों के अनुसार तुलसीदास ने राम कथा-सम्बन्धी २६६ प्राचीन ग्रन्थों से आख्यानों, वर्णनों, प्रसंगों, कविसमयों, भावों तथा सुभाषितों के रूप में पुष्कल सामग्री लेकर काव्य का ताना-बाना बुना है। किन्तु अध्यात्मरामायण एक ऐसी कृति है जिसने रामचरितमानस के स्वरूप को गहराई तक प्रभावित किया है। अध्यात्मरामायण के समान रामचरितमानस भी भक्तहृदय का सहज उच्छ्वास है। दोनों में राम की परब्रह्म तथा सीता की जगज्जननी के रूप में परिकल्पना की गयी है। अध्यात्मरामायण के प्रभाव के कारण ही तुलसीदास ने उत्तरकाण्ड को नया स्वरूप प्रदान किया है। रामचरितमानस वस्तुत: भक्त-हृदय से निस्सृत विशाल स्तोत्र है। श्रद्धालु पाठक के लिये वह मात्र काव्य नहीं है। वह राम की भाँति उसकी चेतना का अविभाज्य तत्त्व है, जिसने जीवन के सुख-दु:ख, हर्ष-विषाद, जय-पराजय के क्षणों में उसे सम्बल प्रदान किया है और स्नेहमयी माता के समान उसके भावों को सहलाया है। भारतीय साहित्य में ऐसी कोई दूसरी रचना नहीं है, जिसने देश की सामाजिक, सांस्कृतिक तथा धार्मिक चेतना को इतनी गहराई तक प्रभावित किया हो।

काव्य-सौन्दर्य तथा सांस्कृतिक गरिमा

से सम्पन्न ऐसी महान् कृति का दूसरी भाषाओं में अनुवाद होना बहुत स्वाभाविक था। विभिन्न भाषायी वर्गों के साहित्यों में निहित ज्ञान को आत्मसात् करने का एकमात्र विश्वसनीय माध्यम अनुवाद ही है। रामचरितमानस के अनुवाद हुए हैं, यह आश्चर्य की बात नहीं है, जिन भाषाओं में अनुवाद हुए हैं, वे कुतूहल का विषय है।

इसे विडम्बना कहें या विरोधाभास, 'मानस' का प्रथम अनुवाद उस भाषा (संस्कृत) में हुआ, जिसके धुरन्धरों के लिये 'भाषा' रचना गौरवपूर्ण कृत्य नहीं था। यह अनुवाद तुलसीदास के जीवन काल में ही हुआ था, यह और भी कुतूहल-जनक है। रामू द्विवेदी की 'प्रेम-रामायण' रामचरितमानस का पद्यानुवाद भी है और उसकी टीका भी। 'मानस' की रचना के कुछ समय बाद ही रामू द्विवेदी इसका संस्कृत पद्य में अनुवाद करने में प्रवृत्त हुए, इसका अवश्य ही कोई गुरुतर कारण रहा होगा। प्रतीत होता है कि 'रामचरितमानस' के प्रकट होते ही उसे ऐसी अपूर्व ख्याति मिली कि 'भाषा' के प्रति उपेक्षा भाव रखने वाला पण्डितवर्ग भी उसके काव्य-सौन्दर्य, सांस्कृतिक गौरव और उच्छल भक्ति को 'अपनी भाषा' में आत्मसात् करने को लालायित हो गया। रामू द्विवेदी ने अपने पद्यानुवाद के द्वारा उसकी पिपासा को तुष्ट करने का सराहनीय प्रयत्न किया।

'प्रेम रामायण' के माध्यम से संस्कृत पण्डित रामचरितमानस के काव्यवैभव से इतने मोहित हुए कि उसके संस्कृत अनुवादों की एक श्रृंखला-सी बन गयी। 'प्रेमरामाणय' के अतिरिक्त 'मानस' के पांच अन्य संस्कृत-अनुवाद उपलब्ध हैं। इनमें अन्नारायणाचार्य स्वामी का अनुवाद कदाचित् सबसे प्राचीन है। खेद है, इसके केवल दो काण्ड-अरण्यकाण्ड तथा सुन्दरकाण्ड-ही काल के प्रहार से बच सके हैं। शेष काण्ड उसके उदर में समा गये हैं। यह अनुवाद विक्रम संवत् १८५० (=१७९३ ई.) में किया गया था। कालक्रम की दृष्टि से इसके बाद सुधाकर द्विवेदी का अनुवाद आता है। यह नागरी प्रचारिणी सभा की पत्रिका 'मानस' में प्रकाशित हो चुका है। जनार्दन गंगाधर रटाटे का 'मानस भारती' नामक संस्कृत अनुवाद लगभग पचास वर्ष पूर्व प्रकाशित हुआ था। नलिनी साधले पराडकर के अनुवाद का केवल बालकाण्ड प्रकाश में आया है। अनुवादिका ने अनुवाद करने में मनमानी से काम किया है। शिवकुमार शुक्ल का पद्यानुवाद 'मानस' का कदाचित् अन्तिम संस्कृत अनुवाद है।

रामचरितमानस की महिमा देखिए, फ़ारसी भाषी भी उसके काव्य-सौन्दर्य से

आकर्षित हुए बिना नहीं रह सके। उनकी सुविधा के लिये भोलानाथ नादान ने 'मानस' का फारसी में अनुवाद किया, जिसे उन्होंने 'समरतुलहयात' नाम दिया है। यह 'मानस' का फ़ारसी में एकमात्र ज्ञात अनुवाद है और इसकी केवल एक हस्तलिखित प्रति उपलब्ध है। यह विलक्षण अनुवाद तुलसीदास के लगभग दो सौ वर्ष बाद, मुगल शासक शाह आलम के शासन काल में किया गया था। यद्यपि भोलानाथ फ़ारसी साहित्य में अज्ञात है किन्तु 'समरतुलहयात' से प्रतीत होता है कि वह सिद्धहस्त अनुवादक था। अनुवाद में 'काण्ड' को 'लम्हा' नाम दिया गया है।

प्रसंगवश उल्लेखनीय है कि फ्रेंच, रूसी तथा चीनी भाषाओं में भी रामचरितमानस के अनुवाद समय-समय पर हुए हैं।

'मानस' के विविध भाषाओं में इन अनुवादों को बौद्धिक विलास अथवा व्यायाम मानना अनुचित होगा। ये उसकी अपूर्व लोकप्रियता, काव्य-सौन्दर्य और सांस्कृतिक महत्त्व के सच्चे परिचायक हैं।

7/34,पुरानी आबादी, नामदेव फ्लोर मिल के पास,
श्रीगंगानगर - 335 001

पंडित देवदत्त जी शास्त्री : एक सार्थक व्यक्तित्व

–डॉ० त्रिलोचन सिंह बिन्द्रा

विश्वेश्वरानन्द संस्थान के निर्माण कार्य में, आचार्य विश्वबन्धु जी के बाद, जितना योगदान शास्त्री जी का था, उतना और किसी का भी नहीं है। इसीलिए शास्त्री जी को आचार्य जी का दायां हाथ कहा जाता था। संस्थान के जितने भी जिम्मेवारी वाले प्रबन्धकीय कार्य थे, उनकी जिम्मेवारी शास्त्री जी के ही कंधों पर थी। संस्थान की प्रैस के अधिकारी शास्त्री जी, संस्थान की पब्लिकेशन्स की अन्तिम-स्थिति की जिम्मेवारी शास्त्री जी की, भवन-निर्माण के कार्य की जिम्मेवारी शास्त्री जी की, पुस्तक-विक्रय विभाग की जिम्मेवारी शास्त्री जी की, संस्थान में आने वाले सज्जनों की जिम्मेवारी शास्त्री जी की, सत्संग में रविवार सायं को स्थित-प्रज्ञ के लक्षण पढ़ने की ड्यूटी भी शास्त्री जी की तथा संस्थान के लिए दान एकत्रित करने में पूरा सहयोग शास्त्री जी का होता था। संस्थान के कार्यों की चिन्ता में सदा निमग्न रहने के कारण उनका स्वभाव बहुत ही गम्भीर हो गया था। उनको कभी-कभार ही हंसते हुए देखा गया है। शास्त्री जी का मस्तिष्क सर्वदा संस्थान के कार्यों की चिन्ता में ही लीन रहता था। आचार्य विश्वबन्धु जी जब शास्त्री की परीक्षा लाहौर (पाक.) में दे रहे थे, उसी वर्ष शास्त्री जी भी शास्त्री की परीक्षा दे रहे थे। वहीं पर इन दोनों महानुभावों का मेल हो गया। उसी समय से शास्त्री जी आचार्य जी के प्रति समर्पित हो गए। वे उसी समय से आचार्य जी के साथी बन गए।

1920 के लगभग, लाहैर में जब आचार्य जी ब्राह्म-महाविद्यालय के संचालक बने तो उस समय भी शास्त्री जी उनके साथ ही थे। वहां पर आचार्य जी ने उन्हें पढ़ाने का, वार्डन का तथा दूसरे प्रबन्धकीय कार्यों की जिम्मेवारी दी हुई थी। जब फिर आचार्य जी 1924 में लाहौर में विश्वेश्वरानन्द संस्थान के संचालक बने तो उस समय भी शास्त्री जी उनके साथ ही थे। वहां पर वैदिक कोष को छापने के लिए प्रैस लगाई गई तो, वहां पर भी उसके प्रबन्धक शास्त्री जी ही थे। दूसरे व्यवस्था के कार्यों में भी शास्त्री जी का आचार्य जी को पूरा सहयोग था। जब 1947 में आचार्य जी को लाहौर से होशियारपुर आना पड़ा तो

उस समय भी सारे कोष के सामान को लाने में शास्त्री जी का पूरा सहयोग था। होशियारपुर पहुँच कर सारे सामान को इधर-उधर से इकट्ठे करने और संस्थान की पुन: स्थापना में भी आचार्य जी को शास्त्रीय जी का पूरा योगदान था। शास्त्री जी को सदा संस्थान के कार्य के अतिरिक्त कोई और दिलचस्पी नहीं थी। संस्थान में समय पर पहुँचना शास्त्री का पक्का नियम था। एक बार बहुत ही अधिक वर्षा हो रही थी, घुटने तक पानी सड़क पर बह रहा था, शास्त्री जी ऐसी स्थिति में भी, पाजामा कन्धे पर रखे हुए, हाथ में जूता उठाए हुए तथा सिर पर छतरी लेकर पूरे समय पर आश्रम पहुँच गए।

शास्त्री जी बहुत ही नम्र स्वभाव के थे। आचार्य जी के निकटस्थ होने का उन्होंने कभी नाजायज लाभ नहीं उठाया। एक बार मैं आचार्य जी के साथ सत्संगसार पुस्तक को संशोधित कर रहा था, तो आचार्य जी ने उसकी भूमिका को अन्तिम रूप देने में कई दिन लगा दिए। ऐसी स्थिति में शास्त्री जी ने आचार्य जी के पास जाकर इस सम्बन्ध में नहीं पूछा। जब मैं आचार्य जी के पास से नीचे उतर रहा था तो उन्होंने मुझे धीरे से पूछा! जब मैंने शास्त्री जी को बतलाया कि अभी भी फाईनल नहीं हुई भूमिका, तो उन्होंने मुझे बड़े प्रेम से कहा - 'जो रिसर्च-स्कालर होते हैं, उनका कोई विश्वास नहीं होता। वे कभी कुछ और कभी कुछ कर देते हैं।' एक बार एक विक्षिप्त व्यक्ति मदन लाल अध्यापक ने प्रैस से अपने आप को सी.बी.आई. का मुख्य अधिकारी बता कर अपने नाम की मुहरें बनवा लीं। जब शास्त्री जी को पता लगा तो वे चिन्तित हो गए और उन्होंने मदन लाल से वापिस मुहरें मांगी तो वह नहीं माना। उस समय भी शास्त्री जी ने कोई हंगामा नहीं किया, बल्कि मुझे ही धीरे से कहा तो मैंने उस व्यक्ति से किसी प्रकार मुहरें शास्त्री जी को वापिस दिलाईं।

शास्त्री जी में त्याग-भाव बहुत था। आचार्य जी के देहान्त के पश्चात् संस्था के संचालक प्रिं. रलाराम जी को बनाया गया। उनका देहान्त भी शीघ्र ही अकस्मात् हो गया। उस समय शास्त्री जी को संस्थान का कार्यकारी संचालक बनाया गया। उन्होंने कुछ समय इस पद पर कार्य करके त्याग-पत्र दे दिया। उनका कहना था कि मैं इस संचालक पद के साथ न्याय नहीं कर पा रहा हूं। नहीं तो कोई दूसरा व्यक्ति कभी ऐसा नहीं करता।

आचार्य जी ने शास्त्री जी को उनकी अवस्था के अनुसार रिटायर करके 250 रू० महीना पैंशन लगा दी और उनको कहा कि आप अपनी इच्छानुसार जितना सहयोग संस्थान को कर सकते हैं, करें। पर, उस समय भी शास्त्री जी नियमानुसार संस्थान में आकर कार्य करते रहे। आचार्य जी के देहान्त के बाद

भी 18-20 वर्ष तक संस्था का कार्य करते रहे। बाद में जब इनकी धर्म-पत्नी का देहान्त हो गया तो उन्हें दिल्ली (तिलक नगर) में अपने भाञ्जे के पास जाकर रहना पड़ा। उस समय मैंने दिल्ली किसी काम से जाना था तो खजांची जी ने शास्त्री जी की पैन्शन मेरे पास दे दी। मैं तिलक नगर में उनसे मिलने गया तो उन्होंने मुझे उस समय पैन्शन में से 50 रू० लौटा दिए और कहा कि पिछले महीने इतने पैसे बच गए थे। इसके साथ ही उन्होंने बताया कि वे अब भी महाभारत के ऊपर कार्य कर रहे हैं।

शास्त्री जी का जन्म आज के पाकिस्तान के जिला गुजरात के एक गांव में हुआ था। उनका परिवार एक बहुत ही गरीब खत्री परिवार था। उनके पास किसी भी निकट या दूर के किसी स्कूल में जाने का साधन नहीं था। सौभाग्य से इन के एक आर्य-समाजी सम्बन्धी के कारण, उनके गांव में एक आर्य-समाजी पाठशाला की स्थापना हो गई। वहां पर शास्त्री जी ने पांचवीं कक्षा पास कर ली। आगे की पढ़ाई के लिए इनके उसी सम्बन्धी ने शास्त्री जी का परिचय लाहौर में महाशय खुशहाल चन्द जी से करवा दिया। उनकी सहायता से शास्त्री जी ने वैदिक आश्रम नामक छात्रावास में रह कर प्राज्ञ, विशारद और शास्त्री की परीक्षाएं पास कीं। शास्त्री की परीक्षा के समय शास्त्री जी का परिचय आचार्य जी के साथ हो गया और फिर ये आचार्य जी के साथ जुड़ गए।

शास्त्री जी का कद छोटा था। वे कमीज और पाजामा पहनते थे। सिर पर पगड़ी बांधते थे, जिसका एक लड़ इनके कंधे पर रहता था। इनका व्यक्तिगत शोध का विषय महाभारत ही था। इनका लेख बहुत ही सुन्दर तथा बारीक होता था इनका देहान्त अन्त में इनके सम्बन्धियों के पास ही हुआ। ऐसे सात्विक व्यक्तित्व के धनी तथा संस्थान के निर्माण में बहुत बड़े सहयोगी शास्त्री जी को भी संस्थान से सम्बन्धित प्रत्येक व्यक्ति को भूलना नहीं चाहिए। आचार्य जी के साथ-साथ शास्त्री जी जैसे उनके साथियों को भी हमें स्मरण और नमन करना चाहिए।

–साधु आश्रम, होशियारपुर

सन्दर्भ ग्रन्थ - आचार्य विश्वबन्धु के सहायोगी साधक-लेखक प्रो. शादी राम जोशी। विश्वेश्वरानन्द वैदिक शोध संस्थान साधु आश्रम, होशियारपुर-1987

महर्षि दयानन्द सरस्वती व भगवान् महावीर : एक वैचारिक समरसता

- डॉ० महावीर प्रसाद

भगवान् श्रीकृष्ण ने गीता में लिखा है कि जब जब जगत् में धर्म का ह्रास और पाप की वृद्धि हो जाती है तो कोई कर्मठ, शान्त, वीतरागी और तेजस्वी महापुरुष या नेता उत्पन्न होकर इस भूमि पर धर्म की स्थापना कर आध्यात्मिक सुख और समृद्धि का मार्ग दिखाता है।

यदा यदा हि धर्मस्य ग्लानिर्भवति भारत।
अभ्युत्थानमधर्मस्य तदात्मानं सृजाम्यहम्।।
परित्राणाय साधूनां विनाशाय च दुष्कृताम्।
धर्मसंस्थापनार्थाय संभवामि युगे युगे।।

गीता ४.७-८

यद्यपि इस श्लोक में अवतारवाद की गन्ध अनिवार्य है, तथापि यह वाद सभी धर्मों में किसी न किसी रूप में मिलता है। ईसाई ईसा को ईश्वर का पुत्र, मुसलमान मुहम्मद को ईश्वर का सन्देशवाहक, बौद्ध बोधिसत्त्वों के रूप में बुद्ध को और जैन भी महावीर को २६ या ३३ भवों वाला मानते हैं। दयानन्द ने उपर्युक्त गीता के श्लोक पर टीका की और माना कि धर्मादि संस्थापना के निमित्त महान् परोपकारी आत्मा लोककल्याण के लिए युग-युग में जगत् में आने की कामना कर सकती है। अतः अवतारवाद के औचित्य और अनौचित्य का विचार न कर इतना निर्विवाद रूप से माना जाता है कि समय-समय पर देश में जनकल्याण की भावना से प्रेरित हो कर कुछ व्यक्ति अपने लौकिक सुखों का बलिदान कर, अनेक कष्ट सहन कर, अपने को उन्नत बना और अध्यात्म स्थिति में स्थित होकर लोककल्याण के लिए अपने आप को आहुत कर देते हैं। महावीर और दयानन्द ऐसी ही दो विभूतियां हैं।

ये दोनों महापुरुष धार्मिक और सामाजिक सुधारक हुए हैं। दोनों पर अपने-अपने काल की परिस्थितियों का प्रभाव पड़ा है और तदनुरूप ही इनकी विचारधारा, लक्ष्य, आत्मसाधना और कार्य प्रणाली स्थिर हुए हैं। महावीर के जन्म के समय वैदिक धर्म का घोर पतन हो चुका था। वामाचार का बोलबाला था। वामाचार तन्त्र की एक पद्धति है जिसमें ऐन्द्रियता को प्रतीक मान कर ऊपर उठने का प्रयत्न अपेक्षित है। परन्तु सामान्य जनता न प्रतीक को याद रखती और मानती है, न उसके अज्ञान और स्थूल अर्थ से व्यक्त होने वाले विषम परिणामों को समझती है, उसकी गति

स्थूल की ओर होती है। वह सूक्ष्म की ओर से विमुख रहती है। वामाचार का भी यही परिणाम हुआ। अत: महावीर के समय यज्ञों में मांस आदि की आहुतियां दी जाने लगीं। पशुओं का वध साधारण सी बात हो गई। दया नाम की वस्तु लिप्त हो चुकी थी। वर्णव्यवस्था जन्मगत हो चुकी थी। गणराज्य भी उसके चंगुल से बच न सके। पूंजीवादी या साहूकारों ने संभवत: सामान्य जनता को बहुत सुखी नहीं रक्खा हुआ था। अत: महावीर ने इन सब के विरुद्ध अपना आन्दोलन चालू कर दिया। आपने अहिंसा और संयम मूलक, अध्यात्मवाद, व्यक्तिवाद और समाजवाद आदि का रूप सामने प्रस्तुत कर जनता को सुख का श्वास दिया।

दयानन्द के काल में भी वैदिक धर्म परम हीन दशा को प्राप्त हो चुका था। इस युग में भी तन्त्रों के ब्रह्माचार प्रधान, देश में अनाचार फैलाने वाले हिंसाप्रधान सम्प्रदाय प्रचलित थे। धर्मप्रधान दार्शनिक विचार जड़वाद की ओर से ले जा रहे थे। देवतावाद ईसाईयों के कटाक्षों, आक्षेपों और आक्रमणों को सहने में असमर्थ था। हिन्दुओं की छूआछूत और नारियों का तिरस्कार इस समाज को जर्जरित कर रहे थे। शंकर का मायावादी वेदान्त देशवासियों के पौरुष और कर्मण्यता को मायात्मक कर चुका था। पौरुष और अपौरुष, कर्मण्यता और अकर्मण्यता, वीरता और कायरता तथा ज्ञान और अज्ञान की अद्वैत भावना और तादात्म्य बहुत दूर तक पहुँच चुका था।

जैन धर्म का द्वैतवाद इस तादात्म्य की बाढ़ के सामने निश्चेष्ट-सा, अकर्मण्य-सा किंकर्त्तव्यमूढ़-सा और विफल-सा सिद्ध हो चुका था। यहां भी संयम और सदाचार की स्थिति बहुत उन्नत न थी। इनकी अहिंसा तान्त्रिकों की हिंसा से टक्कर न ले सकी। जैन देवियों आदि के रूप में इन पर भी तन्त्र ने अपना प्रभाव जमा लिया था। दयानन्द ने इस स्थिति का अवलोकन, अध्ययन और विश्लेषण किया और अपना मार्ग स्थिर किया। उन्होंने जैनों के अहिंसावाद को अकर्मठ से क्रियाशील बना दिया। शत्रु को यावच्छक्य सहन करो, परन्तु अपने पर वश न पाने दो। उन्होंने राष्ट्र के शत्रु का उच्छेद कर देश में चक्रवर्ती राज्य की स्थापना का लक्ष्य निर्धारित किया। उनकी अहिंसा हिंसा से भिन्न परन्तु हिंसा के सदृश कर्म थी। वस्तुत: अहिंसा में हिंसा निहित ही है। किसी आततायी को सरंक्षण देना उसके हिंसा कर्म को बढ़ाना है। बिच्छू या सर्प को जीवित छोड़ देना किसी के लिए दु:ख या प्राणों का संशय उत्पन्न कर सकता है। जैसे जाना क्रिया में आना भी है, मिलाना क्रिया में अलग क्रिया भी निहित है, योग में वियोग है, केन्द्रीभूत प्रेम में उपेक्षा या घृणा के बीज विद्यमान हैं, राग में द्वेष है, उसी प्रकार हिंसा और अहिंसा का भी अविनाभाव

सम्बन्ध है, केवल उसकी मात्रा और प्राधान्य से एक का अस्तित्व और दूसरे का तिरोभाव लक्षित होता है। अत: दयानन्द ने अपनी-अपनी सीमाओं में दोनों के प्रयोग का सन्देश देकर हिन्दू जाति में नव जागृति उत्पन्न की। अहिंसा को अप्राण से सप्राण बना दिया। साथ ही हिन्दुओं के विभिन्न सम्प्रदायों की धर्म के नाम पर की जाने वाली हिंसाओं का उग्र खण्डन किया और उन को उच्छिन्नप्राय: कर दिया। आज उस काल-की सी हिंसाएं विरल है।

महावीर स्वामी ने अहिंसा प्रधान द्वैतवादी अपने मत को प्राचीन आचार्यों की शिक्षाओं से अनुप्राणित बताया और अपने से पूर्व के आचार्यों या तीर्थङ्करों का प्रमाण दिया। इनमें से कुछ नाम वैदिक साहित्य में उपलब्ध बताए जाते हैं। इसके फलस्वरूप जैनों में दो प्रवृत्तियां कालान्तर में पनपीं।

१. जैनधर्म वैदिक धर्म से भिन्न है, २. जैनमत वैदिक धर्म से प्राचीनतर है। इन दोनों भावनाओं के कारण जैनों और हिन्दुओं में चिरकाल तक विरोध, संघर्ष और हिंसावृत्ति चलती रही। यदा कदा आज भी इस प्रवृत्ति की कहीं-कहीं झलक मिल जाती है। दयानन्द ने जैनों की इन दोनों ही बातों को नहीं माना। उनके मत में वैदिक धर्म ही संसार में प्राचीनतम और आदिभूत है। संसार के सब धर्म उससे ही विकसित हुए और उस का विकार हैं। दयानन्द ने बौद्ध और जैनों में अभेद भी माना और इस प्रकार दोनों को अवरकालीन माना। पारसी, ईसाई और इस्लाम धर्म भी देश-काल-जन्य विकारों से ओत:-प्रोत वैदिक धर्म ही है। इस मान्यता के फलस्वरूप दयानन्द ने वैदिक धर्म के पुनरुद्धार का उद्घोष किया, वेद को परम और अन्तिम प्रमाण माना और उनके अपनी दृष्टि से निरुक्त आदि से अनुप्राणित प्राचीन शैली से अनुगत भाष्य प्रस्तुत कर उनमें अपनी मान्यताओं की सत्ता खोजी या प्रतिबिम्बित देखी।

महावीर जी का अध्यात्मवाद संयमप्रधान है। जैनमत में ईश्वर और जीव में तात्त्विक भेद नहीं है। डॉ. नरेन्द्र भानवत ने लिखा है कि, "महावीर ने ईश्वर को इतना व्यापक बना दिया कि कोई भी आत्म-साधक ईश्वर को प्राप्त नहीं करे वरन् स्वयं ही ईश्वर बन जाए।....... साधक भी वही है और साध्य भी वही है। ज्यों-ज्यों साधक तप संयम अहिंसा को आत्मसात् करता जायेगा त्यों-त्यों वह साध्य के रूप में परिवर्तित होता जायेगा। वह तो स्वयं में स्वतन्त्र, मुक्त निर्लेप और निर्विकार है।" केवल ज्ञानी ईश्वर ही है। प्रत्येक व्यक्ति इस पद को प्राप्त कर ईश्वर बन सकता है। यह ईश्वरत्व एक जीवात्मा में स्थिति विशेष ही है, और अन्यों के सर्वव्यापक और एक ईश्वर के भाव से भिन्न है इस लिए यहां अनेकों ईश्वर होते हैं। प्रत्येक जिन ईश्वर में अभेद या

तादात्म्य है। कर्म के बन्धन के कारण ही अपने मूल और चरम रूप में अनन्त चेतना, अनन्त ज्ञान, अनन्त शक्ति और अनन्त शान्ति से युक्त चरम और सनातन सत्ता तथा शाश्वत तत्त्व आत्मा इस संसार में शरीर, मन और इन्द्रियों के बन्धन में पड़ सीमित शक्ति, ज्ञान और शान्ति वाली हो जाती है।

दयानन्द ने जैनों के आत्माओं के इस अद्वैत को द्वैत में बदल दिया और जीव से भिन्न परमशक्ति सम्पन्न, ज्ञान के एक मात्र स्रोत, आनन्दमय, सृष्टि के कर्त्ता, धर्त्ता और संहता, अनन्त, शाश्वत, सनातन अनादि और सदा एक रूप, बन्धन आदि से रहित माया और कर्म फलों से अपरामृष्ट परमेश्वर का प्रतिपादन किया जिस को ज्ञान, संयम और सदाचार के द्वारा जाना और अनुभव किया जा सकता है, परन्तु उसके साथ तादात्म्य या एकरूपता संभव नहीं। दयानन्द के मत में मुक्त आत्मा सदा सर्वदा के लिए आवागमन से नहीं छूटती है। महा कल्प पर्यन्त मोक्ष का सुख प्राप्त कर वह फिर इस लोक में जन्म लेती है। वह अनन्तता की परिधि में वाष्पित नहीं होती है। इस कारण जीवात्मा को सतत और अपने और दूसरों के हितचिन्तन और हितसाधन में लगे रहना आवश्यक है। शंकर के अद्वैत का जो प्रभाव भारतीय जनमानस पर हुआ उसी के सदृश जैन आत्माद्वैत का प्रभाव रहा। शंकर और जैनों के मत में बन्धन के कारण और संख्या ही भिन्न है, अन्यथा लक्ष्य या भावना दोनों में समान है। दयानन्द ने अपनी इस शिक्षा से इस प्रभाव को उच्छिन्न करने का भरसक प्रयास किया और कुछ सीमित सफलता प्राप्त भी की। जैसे महावीर ने आत्मशुद्धि पर बल दिया है, दयानन्द ने भी आत्मशुद्धि को चरम महत्त्व दिया है। परन्तु दयानन्द आत्मशुद्धि के उपायों में मध्यमवादी ही कहे जा सकते हैं और महावीर उग्रवादी। दयानन्द ने जैनों के समान घोर उपवास, वस्तु त्याग और निवृत्ति पर बल नहीं दिया है, वे प्रवृत्ति और निवृत्ति भोग और त्याग में संतुलन की शिक्षा देते हैं। संन्यास धर्म का तो वे एक प्रकार से निषेध-सा करते हैं, क्योंकि उनकी कसौटी पर खरे उतरने वाले जितेन्द्रिय और संयमी संन्यास के अधिकारी-जन विरले ही मिल सकते हैं तथापि दयानन्द व्यष्टि को समष्टि के तादात्म्य करने पर बल देते हैं और समाज के कल्याण मे रत न रहने वाले जीवन को हेय और निरर्थक मानते हैं। उनका व्यक्तिवाद व्यक्तिप्रधान न होकर समष्टि के अधीन उसकी कीली के चारों ओर घूमने वाला है।

महावीर और दयानन्द दोनों ने ही त्याग और अपरिग्रह की शिक्षा दी और समाज के आसक्ति और परिग्रह प्रधान आर्थिक ढांचे को बदलने का प्रयास किया। दोनों के प्रयासों के फलस्वरूप दोनों के अनुयायियों ने विशाल धार्मिक भवन तो बनाए परन्तु अर्थलिप्सा और आसक्ति का त्याग नहीं किया। उत्तरोत्तर यह लिप्सा और आसक्ति बढ़ती ही गई और बढ़ती जा रही है। फलत: संस्था धर्म और व्यक्तियों

से सम्बद्ध अनेकों आर्थिक झगड़े देखने को मिलते हैं। साम्यवाद और समाजवाद का मूल भी त्याग है जिसे समवितरण अथवा समुचित वितरण का नाम दिया गया है। इस त्याग को मानव स्वयं स्वेच्छा से करे, यह धर्म और धार्मिक नेता कहते हैं, और शक्ति और दण्डे तथा राजव्यवस्था से सम्पन्न किया या कराया जाए यह साम्यवादी और समाजवादी कहते हैं। धार्मिकों की धारा सतत और अविच्छिन्न वाहिनी है, फल चाहे जितना धीमा और सीमित हो। साम्यवाद और समाजवाद की धारा कालविशेष की परिधि में प्रवाहित रहने वाली है। शक्ति का ह्रास या कल्पना बदलते ही इस की इतिश्री हो जाती है - हो जानी अवश्यम्भावी और स्वाभाविक भी है। नश्वर सत्ता और क्षीयमाण शक्ति के बल पर कोई व्यवस्था भूतकाल में न स्थायी रही है और न ही भविष्य में रह सकती है। अत: महावीर और दयानन्द के अपरिग्रह और त्याग की शिक्षाएं ही मानव का शाश्वत त्राण कही जा सकती हैं। इन्हीं से वित्तैषणा, लोकैषणा और पुत्रैषणा समाप्त हो सकती है।

हिन्दूसमाज में वर्णव्यवस्था एक ऐसी कीली है जिसकी बहुत ऊहापोह की गई है। इसे जितना उखाड़ने का प्रयास किया गया है यह उतनी ही दृढ़ होती गई है। यद्यपि आज बड़े-बड़े नेता और शिक्षाशास्त्री जाति भावना की मुक्तकण्ठ से बुराई करते हैं, उसको तोड़ने का उद्घोष करते हैं और अपने को उस से ऊपर उठा हुआ समदर्शी घोषित करते है, परन्तु वे अपनी जाति में इतने ही लिप्त हैं जितना गोबर का कीड़ा गोबर में लिप्त रहता है। उन्होंने जातिवाद को बढाया है और जमाया है। उनमें और उनके जातिवाद में अविनाभाव या समवाय सम्बन्ध-सा स्थापित हो गया है और वे इसकी परिधि से ऊपर उठने में महाक्षयरोग से पीड़ित रोगी के समान सर्वथा असमर्थ से मालूम पड़ते हैं। इसी लिए स्वतंत्र भारत में न केवल पुराना जातिवाद कुछ अल्प से परिवर्तनों से बढ़ा है प्रत्युत नई जातियां भी पैदा हुई हैं।

महावीर और दयानन्द दोनों ने ही इस पक्ष पर ध्यान दिया है। ''महावीर ने बड़ी दृढ़ता और निश्चिता के साथ शूद्रों और नारी-जाति को अपने धर्म में दीक्षित किया और यह घोषणा की कि जन्म से कोई ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्रादि नहीं होता, कर्म से ही सब होता है।'' दयानन्द ने नया मत या धर्म प्रवृत्त नहीं किया था, इस लिए उसे किसी को अपने मत या धर्म में दीक्षित करने का प्रसंग उपस्थित नहीं हुआ। उसने सभी हिन्दू-सम्प्रदायाओं के अनुयायियों को जातिवाद के मूलभाव-गुण कर्म और स्वभाव के आधार पर जाति के निर्णय का स्मरण दिलाया, सब जातियों से समानता का भाव प्रतिपादित किया और उच्च-नीच भाव को हेय बताया। उन्होंने जाति-परिवर्तन का क्रियात्मक रूप भी प्रस्तुत किया। उनकी स्थापित आर्यसमाज ने जातपांत-तोड़क-मण्डल आदि की स्थापना की,

अन्तर्जातीय विवाह सम्बन्ध कराए, कुछ व्यक्तियों के वर्णों में भेद भी किया या माना, परन्तु इस दिशा में सीमित उदार मानसिक चिन्तन के अतिरिक्त कोई असाधारण सफलता दोनों ही आचार्यों महावीर और दयानन्द को नहीं मिली। जैनसमाज भी जातिवाद की संकीर्णता में जकड़ा हुआ है।

महावीर स्वामी के युग में देश के स्वतन्त्र राज्य थे, पराधीनता की सत्ता नहीं थी। अतः उन को इस दृष्टि से कुछ कहने की आवश्यकता नहीं पड़ी। दयानन्द के युग में देश पराधीन था। अतः उन्होंने इस दिशा में भी वैदिक विचारों को प्रस्तुत किया। राष्ट्र के निर्माण, सुरक्षा, समृद्धि और विस्तार आदि का आह्वान वेदमन्त्रों के भाष्यों और व्याख्यानों आदि में किया। देश के राजाओं में स्वतंत्रता और देश प्रेम का बीज बोया, सब को स्वदेशी और स्वराज्य का लक्ष्य प्रदान किया, मनु आदि के आधार पर राजव्यवस्था का चित्र प्रस्तुत किया तथा प्राचीन इतिहास की झांकी द्वारा भारतीय जनमानस को आत्मगौरव प्रदान किया। दयानन्द ने अपनी राजनीति को धर्म के अनुप्राणित किया, महावीर ने भी अपने काल के शासकों को धर्माचरण का उपदेश दिया और अपना अनुयायी बनाया। उनके जीवन काल के बाद भी अनेक जैन शासक इस देश में हुए हैं।

वस्तुतः महावीर और दयानन्द दोनों युग निर्माता महापुरुष हुए हैं। दोनों की देश और जाति को महान् और स्थायी देन है। दोनों की मूल शिक्षाएं परोपकार प्रधान अपनी-अपनी परिधि में समष्टि की ओर उन्मुख अध्यात्म से अनुप्राणित व्यक्तिवाद से ओतःप्रोत हैं। जिसने आत्मकल्याण कर लोककल्याण नहीं किया, उसका इस संसार में आना ही व्यर्थ है। भर्तृहरि ने ठीक ही कहा है-

स जातो येन जातेन याति वंशः समुन्नतिम।
परिवर्तिनि संसारे मृतः को वा न जायते।।

जो अपने मित्र का कल्याण नहीं करता, वह मित्र मित्र ही नहीं है -

न स सखा यो न ददाति सख्ये सचाभुवे
सचमानाय पित्वः।।

(ऋ० 10.117.4)

-अध्यक्ष दयानन्द वैदिक शोधपीठ, दयानन्द महाविद्यालय, अजमेर।

जनतंत्र और नैतिकता

–डॉ० रामस्वरूप दुबे

१५ अगस्त, १९४७ ई० को अंग्रेजों की पराधीनता से मुक्त होकर भारत स्वतंत्र हुआ और २६ जनवरी, १९५० को शासन की जनतंत्रपद्धति को स्वीकार करके प्रभुता-सम्पन्न लोकतंत्र गणराज्य बन गया। जनता के स्वशासन को हम जनतंत्र कहें, लोकतंत्र कहें, गणतंत्र कहें, प्रजातंत्र कहें, गणराज्य कहें अथवा प्रजासत्तात्मक राज्य कहें- इन शब्दों का अभिप्राय एक ही है और इस प्रकार के प्रशासन के लिए अंग्रेजी भाषा में एक ही शब्द है 'डेमोक्रेसी'।

भारतदेश का प्राचीनतम साहित्य सम्पूर्ण मानवता की कल्याण-भावना से ओतप्रोत है। जनतंत्र की मूलभावना 'सब सुखी हों, सब को न्याय मिले, सब निरोगी रहें, सब शुभ देखें, कोई भी प्राणी दुख न पाय' आदि मंगलकामना में सन्निहित रही है-

इसीलिए कहा है सम्पूर्ण जगत् का कल्याण हो, समस्त प्राणी परहित में रत रहें, दोष नष्ट हों, लोग सर्वत्र सुखी रहें।

अथर्ववेद में कहा गया है- 'हे राजन्! प्रजाओं द्वारा ही तुम राज्य के लिए चुने जाओ' और ऐतरेयब्राह्मण में स्पष्ट किया गया "जनता ही राष्ट्र को बनाती है।"

यह ऐतिहासिक सत्य है कि प्राचीन भारत में जनता के महत्व की, उसकी शक्ति की केवल सैद्धान्तिक उद्घोषणा ही नहीं की गयी वरन् अनेक गणराज्यों की स्थापना भी हुई और उन्हें जनता का भरपूर सहयोग भी प्राप्त हुआ। पुरानी खुदाइयों से प्राप्त अभिलेखों, सिक्कों, ठप्पों और मुद्रांकों से यौधेय-गणों के प्रमाण तो उपलब्ध हुए ही हैं। यूनानी और चीनी यात्रियों के वृतांत तथा बौद्ध ग्रन्थों में सन्निहित वर्णन भारतीय गणतंत्रों की प्राचीनता की पुष्टि करते हैं। बौद्ध ग्रन्थों में उल्लिखित कुरु-पांचाल जैसे सोलह महाजनपदों का विशेष महत्त्व इसलिए है कि ये ही जनपद आगे चल कर गणों और तत्पश्चात् गण-संघों के रूप में विकसित हुए। सर ए. कनिंघम की पुस्तक 'प्राचीन भारत के सिक्के' तथा भास्कर राव सैलेतोरे की पुस्तक 'प्राचीन भारतीय राजनीतिक विचार' का निष्कर्ष है कि यौधेय प्राचीन भारत के सर्वाधिक विख्यात जन-समुदायों में से थे और उनकी गणतंत्रात्मक प्रणाली उच्चकोटि की थी। हज़ारों वर्षों तक गतिशील रहने वाली उनकी गणशक्ति अंततः

गुप्त सम्राटों से संघर्ष होने पर क्षीण हो गयी। इस प्रकार साम्राज्यों के आने से वैदिक काल से चली आ रही गणराज्यों की परम्परा नष्ट हो गयी, समाज की सामूहिक शक्ति घट गयी, जिसकी लाठी उसकी भैंस के व्यवहार के कारण आपसी फूट बढ़ी और दुष्परिणाम हुआ कि हम दीर्घकाल तक पराधीनता की बेड़ियों में जकड़े रहे।

ब्रिटिश पराधीनता में अन्याय और अत्याचार से तंग आकर भारतीय जनता का स्वर तिलक की वाणी में मुखरित हुआ- 'स्वतंत्रता हमारा जन्म-सिद्ध अधिकार है'। स्वशासन के लिए महात्मा गांधी के नेतृत्व में स्वाधीनता के प्रयास आरम्भ हुए, साम्राज्यशाही का दमन-चक्र चला और संघर्ष दृढ़ता पकड़ता चला गया। २६ जनवरी, १९३० को पं. जवाहर लाल नेहरू की अध्यक्षता में लाहौर में हुए कांग्रेस-अधिवेशन में प्रतिज्ञा प्रस्तावित हुई- 'हमें विश्वास है कि किन्हीं भी अन्य लोगों के समान ही भारतीय लोगों का यह अविच्छेद्य अधिकार है कि स्वतंत्रता प्राप्त करें और अपने कठोर श्रम का फल पायें तथा जीवन की आवश्यकताओं को हासिल करें जिससे विकास के पूरे अवसर मिलें। हम यह भी विश्वास करते हैं कि कोई सरकार यदि जनता को इन अधिकारों से वंचित करती है और सताती है तो जनता को यह भी अधिकार है कि उसे बदल दे या हटा दे....।' प्रतिज्ञा प्रतिवर्ष दोहराई जाती रही, आन्दोलन चलते रहे, 'भारत छोड़ो आन्दोलन, भी छेड़ा और अन्ततः १५ अगस्त, १९४७ को स्वाधीनता प्राप्त होकर ही रही।

स्वाधीनता प्राप्त कर लेने के बाद ही प्रश्न उठता है शासनपद्धति के चुनाव करने का। सबको समान अवसर, न्याय और स्वाधीनता के सुख की कामना रखने वाले भारत के लिए जनतंत्रपद्धति के अतिरिक्त अन्य कोई शासन-प्रणाली उपयुक्त नहीं हो सकती थी। अतएव २६ जनवरी, १९५० को शपथ-ग्रहण की गयी - ''हम भारत के लोग, भारत को एक संपूर्ण प्रभुत्व-सम्पन्न लोकतंत्रात्मक गणराज बनाने के लिए तथा उसके समस्त नागरिकों को सामाजिक, आर्थिक और राजनैतिक न्याय, विचार, अभिव्यक्ति, विश्वास, धर्म और उपासना की स्वतंत्रता, प्रतिष्ठा और अवसर की समता प्राप्त करने के लिए तथा उन सब में व्यक्ति की गरिमा और राष्ट्र की एकता सुनिश्चित करने वाली बंधुता बढ़ाने के लिए दृढ़ संकल्प होकर अपनी इस संविधान-सभा में एतद् द्वारा इस संविधान को अंगीकृत, अधिनियमित और आत्मार्पित करते हैं।''

उपर्युक्त शपथ, जिसकी शब्दावली आकर्षक और समाविष्ट भावना हृदयग्राही, आदर्श तथा आश्वस्त करने वाली है, संविधान में सन्निहित सुविस्तृत अधिकारों और नियमों का सूत्रात्मक संक्षेप है। स्वाभाविक ही था कि इस झलक को पाकर, जनतंत्र के इस

आह्लादक स्वरूप की अनुभूति प्राप्त करके युग-युग की पराधीनता के आतप से झुलसा हुआ भारतीय जनमानस नव मेघ-वर्षण जैसे आनन्द से भाव-विभोर हो उठे। उल्लास की रक्त-सिक्त लहर ने देश के आबाल-वृद्ध को अपरिमित उमंग से सराबोर और ओत:प्रोत कर दिया था। मन-मयूर सहसा ही नर्तन-रत हो उठे थे। ऐसा ही तत्कालीन विचारक श्री के. टी. शाह के साथ हुआ था, जिन्होंने उत्तर प्रदेश से प्रकाशित 'समाचार' के जनतंत्र-अंक, १९५० में लिखा था - ''यदि हम सद्‌भावना से इस विधान को कार्यान्वित करें, बुद्धिमत्ता और ईमानदारी से काम लें और अपने हृदय में केवल जनता की भलाई को ही स्थान दें, तो मुझे विश्वास है, यह विधान अल्पकाल में ही वास्तविक प्रजातंत्र स्थापित करने में समर्थ हो सकेगा और निकट भविष्य में नहीं तो अधिक से अधिक ५ या १० वर्षों में इस देश की जनता अपने देश की वास्तविक शासक बन सकेगी।''

संविधान-निर्माता डॉ० आंबेदकर भी कम आशान्वित नहीं थे परन्तु वे यह अच्छी तरह समझते थे कि लोकतंत्र का ढाँचा समतापूर्ण सम्बंधों के आधार पर ही टिक सकता है, किसी भी व्यक्ति को अतिविशिष्ट और एकमात्र अवलम्ब मानकर नहीं। इसीलिए उन्होंने नवजात लोकतंत्र के लिए संभावित संकट के सम्बंध में सावधान करते हुए संकेत दिया था - ''**धर्म में भक्ति-मार्ग आत्मा की मुक्ति का मार्ग हो सकता है परन्तु राजनीति में भक्ति या नेता-पूजा का अनिवार्य परिणाम होता है पतन और अंतत: अधिनायक-वाद।**''

असंतुलित आशाओं का जाल दृष्टि को प्राय: भ्रमित कर देता है और जब ऐसा होता है तब मृगमरीचिका के अतिरिक्त अन्य कुछ भी नहीं मिलता। दुर्भाग्य से एक आदर्श संविधान के होते हुए भी आजादी का अर्थ मनमानी करने की छूट लगाया जाने लगा, स्वतंत्रता पूर्व की त्याग और सेवा की भावना को तिलांजलि देकर लोग उच्च पदों तथा सुविधाओं के लिए दौड़-धूप करने लगे और विशिष्ट और अतिविशिष्ट कहे जाने के आकांक्षी लोगों की भीड़ निरन्तर बढ़ने लगी। आवश्यकता थी युग-युग की पराधीनता से जर्जर अपने भारत देश के पुनर्निमाण की परन्तु सत्ता से चिपके रहने के लिए यदि मत (वोट) प्राप्त करने के लिए जातिवाद, संप्रदायवाद, क्षेत्रवाद आदि की संकुचित-स्वार्थी मनोवृत्ति का बोलबाला हो जाय तो जन-जन को समता का न्याय कैसे मिल सकेगा, जनतंत्र का 'बहुजन हिताय, बहुजन सुखाय' का लक्ष्य कैसे प्राप्त किया जा सकेगा? इस प्रश्न ने देश-हितैषियों को चिन्तित कर दिया। सुविधाजनक स्थिति में पहुँच गये लोगों ने शंकित जन को समय-समय पर यह कहकर आश्वस्त करने का प्रयत्न किया कि दीर्घकाल तक परतंत्र रहे देश में कुछ वर्षों का कोई महत्व नहीं होता, धैर्य

रखने की आवश्यकता है, कुशल प्रशासन का सुफल अवश्य प्राप्त होगा। किन्तु, आशाएं इतने शीघ्र निराशा में परिणत होने लगेंगी, इसकी कोई कल्पना भी नहीं कर सकता था।

स्वाधीनता-संग्राम के समर्पित सेनानी, कुशल राजनीतिज्ञ और मुंबई के पूर्व राज्यपाल श्री श्री प्रकाश का स्वप्नभंग भारतीय गणतंत्र के प्रथम प्रधानमंत्री का देहावसान होने के पूर्व ही हो गया था। 'धर्मयुग' के २६ जनवरी, १९६४ विशेषांक के लिए प्रेषित अपने सन्देश में उन्होंने अत्यंत दुखी होकर लिखा था- "…..गणतंत्र का थोड़े में यही अर्थ है कि कोई भी अपने पिता की सन्ततिमात्र होने के कारण किसी विशेष पद का अधिकारी नहीं हो सकता। सबके लिए ही यह संभव है कि अपनी योग्यता, कुशलता, लोक सेवा के कारण देश के उच्च से उच्च पद पर बैठ सके। गणतंत्र में कोई वंशपरम्परागत राजा नहीं होता। समय-समय पर जनसाधारण अपने शासन का मुखिया स्वयं चुनता है।......किन्हीं व्यक्तियों पर सदा के लिए भरोसा न कर जनसाधारण का ही स्तर ऊँचा करते रहना चाहिये, जिससे कि राष्ट्रीय जीवन के किसी भी विभाग में कभी भी योग्य व्यक्तियों की कभी न हो। इस तरफ हमने समुचित ध्यान नहीं दिया है। अभी तक हम कतिपय पुराने नेताओं के ऊपर ही आश्रित रहे हैं। साधारण जनता अभी भी अपने कर्तव्यों को नहीं समझ रही है। उसे अपने वास्तविक उत्तरदायित्व का पता नहीं है। ....देश और समाज की रक्षा और उन्नति केवल थोड़े से लोगों पर अवलम्बित नहीं है। उस में सबको ही हाथ बटाना चाहिये और सबको ही आवश्यकतानुसार सब प्रकार के काम को उठाने के लिए सदा तैयार होना चाहिये। .....हम देख रहे हैं कि जब थोड़े-से लोगों के हाथ में सारा शासनाधिकार चला गया है तो वे अपने विचारानुसार ही ऐसे-ऐसे कानून बना रहे हैं, जिनसे उनके समुदाय विशेष का संभवतः लाभ होता है, पर जनसाधारण को उससे कष्ट होता है। कितनी ही राजाज्ञाएं निकल रही हैं, जो देश की युग-युगान्तरों की परम्परा के विरुद्ध जाती हैं। लोग चुपचाप सह लेते हैं। कानूनों की अवहेलना विवश होकर करते हैं। अनेक प्रकार के अनाचार भी हो रहे हैं, जिन से अन्तर्राष्ट्रीय जगत् में हमारी मर्यादा कम होती जाती है और आन्तरिक असन्तोष और कष्ट के कारण लोग विह्वल हो रहे हैं। भिन्न-भिन्न समुदायों में परस्पर का सहयोग न होकर, एक पर दूसरे के द्वारा आघात पहुँच रहा है। इस सब का निवारण होना अत्यावश्यक है, नहीं तो हमारा भविष्य अन्धकारमय हो जायगा। हम स्वतंत्र हुए, हमने गणतंत्र की स्थापना की, पर हम अपने में उन गुणों का संचार न कर सके, जिनके कारण ही इनकी रक्षा हो सकती है। केवल कागज पर बड़े-बड़े आदर्शों को लिख देने से कोई काम नहीं होता। जब हमारे हृदयों में आदर्श रहते हैं और

उनके अनुसार हम काम करते हैं, तभी हम अपने ईप्सित लक्ष्य को प्राप्त कर सकते हैं, नहीं तो हम अपने को उपहास का ही पात्र बनाते हैं। मुझे आज की स्थिति से बड़ी चिन्ता हो रही है, इस कारण यह सब दुख के साथ लिख रहा हूँ।''

देश के लोग नवजात गणतंत्र की गतिविधि के प्रति सजग नहीं रहे। डॉ० आम्बेदकर और श्री श्रीप्रकाश जैसे देश हितैषियों द्वारा दी गयी चेतावनियों की ओर आवश्यक ध्यान नहीं दिया और केवल अधिकारों, लाभों तथा सुविधाओं के चक्कर में रहे। इस असावधानी का ही यह दुष्परिणाम हुआ कि जनतांत्रिक भावना का ह्रास होता चला जा रहा है।

जनतंत्र में नैतिकता का महत्व

नैतिकता मानव-जीवन का मेरुदण्ड है। नैतिकता वह परमशक्ति है, जो सदाचरण को अनुप्राणित और संचालित करती है। हम सच्चे अर्थ में मानव तभी हैं, जब हमारे विचार नैतिक हैं क्योंकि नैतिकता हमें कभी भी अनीति की राह पर अग्रसर नहीं होने देती, अनुचित और अन्यायपूर्ण कार्य में प्रवृत्त नहीं होने देती। नैतिकता हमारे जीवन के प्रत्येक क्षेत्र से अनिवार्यतः संपृक्त है, वह क्षेत्र वैयक्तिक, पारिवारिक, सामाजिक अथवा राष्ट्रीय, कोई भी हो। कर्तव्य-भावना प्रत्येक क्षेत्र से जुड़ी हुई है। नैतिकता ही हमें यह सोचने-समझने का विवेक भी देती है कि कर्त्तव्य और अधिकार अन्योन्याश्रित एवं अभिन्न हैं। कर्तव्य के बिना अधिकार का कोई अस्तित्व ही नहीं है। श्रीमद्भगवद् गीता में तो यहाँ तक कहा गया है कि हमें केवल कर्तव्य का ही अधिकार है। कर्तव्य-पालन की नैतिकता जब नहीं निभायी जाती, तभी अधिकार का दुरुपयोग होता है, स्वार्थवश स्वेच्छाचारिता बढ़ती है और मानवता का ह्रास होता है। यही वह मूल न्यूनता रही, जिसके कारण हमारे देशवासी स्वाधीनता प्राप्त कर लेने पर भी उसका अभीष्ट लाभ लेने का सौभाग्य न पा सके। असंतोष ही हमारी नियति रही।

यह वास्तव में अत्यन्त क्षोभ की बात है कि हम महात्मा गांधी को राष्ट्रपिता तो कहते हैं और उनके नाम पर वोट मांगने में भी संकोच नहीं करते, किन्तु हमने न तो उनके जीवन से शिक्षा ग्रहण की, न उनके सुभाषितों से। उनका कथन - ''जनता के स्वराज का अर्थ है व्यक्तियों का स्वशासन और इस तरह का स्वराज तभी प्राप्त होता है जब सभी नागरिक अपने कर्तव्य का पालन करें।.....अधिकारों का सच्चा स्रोत कर्तव्य है। यदि हम सब लोग अपना-अपना कर्तव्य करें तो अधिकार आसानी से मिल जाते हैं। यदि हम अपने कर्तव्य को किये बिना अधिकारों के पीछे दौड़ेंगे तो मृगमरीचिका की तरह वे हम से दूर होते जायेंगे।.....लोकतंत्र के इस युग में यह आवश्यक है कि लक्ष्यों की पूर्ति जनता के सामूहिक प्रयास द्वारा की जाय। .....अब तक

लोगों की सारी शक्ति ब्रिटिश सरकार से लड़ने में लगी थी। अब उसी शक्ति को राष्ट्र को सुखी तथा बलवान् बनाने में लगाना चाहिये अन्यथा वह उलटकर हमारे ही ऊपर पड़ेगी और हमारे अन्दर फूट तथा विघटन पैदा करेगी।"

जनतंत्र का लक्ष्य व्यक्ति की अधिकतम स्वतंत्रता है, जबकि तानाशाही लगभग सभी प्रकार की स्वतंत्रता का दमन करती है। नैतिक दृष्टि से जनतंत्र सभी प्रकार की शासन-प्रणालियों से श्रेष्ठ है क्योंकि जनतंत्र में व्यक्ति की उपेक्षा नहीं होती, व्यक्ति को स्वयं साध्य स्वीकार किया जाता है, न्याय मिलता है, व्यक्तित्व के विकास के समान अवसर मिलते हैं और साधारण से साधारण परिवार का व्यक्ति भी अपने गुणों और योग्यता के बल पर उन्नति के शिखर पर पहुँच सकता है। राष्ट्रकवि मैथिलीशरण गुप्त ने यथार्थ ही लिखा था –

हो सकती हैं प्रजातंत्र में भी कुछ त्रुटियाँ,
प्रासादों से हीन न होंगी उसमें कुटियाँ।
एक श्रमिक जो आज भूमि ही खन सकता है,
कल सुयोग्य हो वही राष्ट्रपति बन सकता है।।

जो त्रुटियाँ अथवा कमियाँ जनतंत्र में हो सकती हैं, उनमें से अधिकांश और मुख्य रूप से हमारी ही अपनी कमियों अज्ञान, असावधानी, जागरूकता के अभाव, कर्तव्यहीनता आदि के कारण। जो कुछ हो रहा है और जो कुछ हुआ है उस पर दृष्टि रखने के साथ-साथ हमें समय-समय पर आत्मनिरीक्षण करते रहना चाहिये और अपनी कमियों को दूर करते रहना चाहिये। केवल शासन की आलोचना करने से वांछित परिणाम प्राप्त नहीं हो सकता। हम एक आदर्श जनतंत्र के नागरिक हैं, असहाय नहीं। मूक दर्शक बने रहना हमारी ही अपनी दुर्बलता है। स्वयं में हीनता का भाव हमें कदापि नहीं आने देना चाहिये। जनता की शक्ति बहुत बड़ी शक्ति होती है और बड़े-से-बड़े साम्राज्य तथा तानाशाह को भी उलट देती है। अपनी और अपने जनतंत्र की कमी हमीं को दूर करनी होगी, सुयोग्य नागरिक के रूप में क्षमता और शक्ति बढ़ानी होगी, उद्धार एवं परिष्कार करना होगा। निराशा को दूर भगाओ, अपनी शक्ति को पहचानो। विदेशी शासन के समय हमने २६ जनवरी, १९३० को जो प्रस्ताव स्वीकारा था- 'हम यह भी विश्वास करते हैं कि कोई सरकार यदि जनता को इन अधिकारों से वंचित करती है तो जनता को यह भी अधिकार है कि उसे बदल दे, हटा दें।

–एम.ए. (हिन्दी एवं अंग्रेजी), एल.एल.बी., पी-एच.डी., ४८/१५४ मोहन संस, पचकूचा, जनरल गंज, कानपुर-२०८००१ उत्तर प्रदेश

डॉ. हरिवंशराय बच्चन और उनका साहित्य-जगत्

– डॉ. स्नेह लता

डॉ० हरिवंशराय बच्चन हिन्दी साहित्य के सशक्त हस्ताक्षर माने जाते हैं। आपका जन्म 27 नवम्बर 1907 को परम्परावादी कायस्थ परिवार में हुआ था। जन्म के समय इनके माता-पिता ने हरिवंशपुराण सुना था, इसीलिए इनके जन्म होने पर माता-पिता ने इनका नाम हरिवंशराय रखा। इनसे 2 भाई और 4 बहनें बड़ी थीं तथा 2 भाई और चार बहनें छोटी थीं। बच्चन जी बीच के थे। उन्होंने अपने परिवार, परिवेश का विशद एवं निर्भीक चित्रण अपने संस्मरणों में किया है। इनकी प्रारम्भिक शिक्षा म्यूनिसिपल स्कूल, कायस्थ पाठशाला में हुई। उच्चशिक्षा गवर्नमेन्ट कॉलेज, इलाहाबाद यूनीवर्सिटी और काशी विश्वविद्यालय में हुई। 1941 से लेकर 1952 तक इलाहाबाद यूनिवर्सिटी में अंग्रेजी के लेक्चरर रहे। 1952 से 1954 तक इंग्लैण्ड में ईट्स के काव्य पर शोध कर कैम्ब्रिज यूनीवर्सिटी से पी-एच.डी. की डिग्री प्राप्त की। विदेश से लौटकर एक वर्ष अपने पूर्व पद पर लैक्चरर तथा कुछ मास आकाशवाणी इलाहाबाद में हिन्दी प्रोड्यूसर के रूप में कार्य किया। सोलह वर्ष दिल्ली में रहे। सन् 72 से 80 तक कभी दिल्ली में रहे और कभी बम्बई में अपने बेटे अमिताभ के साथ रहे। डॉ० हरिवंश राय का विवाह 18 वर्ष की आयु में ही 'श्यामा' के साथ हो गया था। श्रीमती श्यामा मात्र 18 वर्ष की अवस्था में ही बीमारी के कारण स्वर्ग सिधार गईं। बच्चन जी को श्रीमती श्यामा की असमय मृत्यु से गहरा आघात हुआ। श्रीमती श्यामा की मृत्यु ने उनके कवि हृदय को व्यथित हृदय बना दिया।

पुनः सन् 1942 में उन्होंने तेजी से विवाह किया। तेजी जी लाहौर की रहने वाली थीं। श्रीमती तेजी बच्चन से उनके दो पुत्र अमिताभ और अजिताभ हुए। अमिताभ बच्चन फिल्म इंडस्ट्री के सर्वाधिक लोकप्रिय सितारे हैं तथा अजिताभ का विदेशों में अपना व्यापार है। उनके पोते अभिषेक बच्चन तथा पौत्रवधू ऐश्वर्याराय बच्चन हैं।

बच्चन जी ने सृजनशील लेखन सन् 1929 से प्रारम्भ किया जो किसी न किसी रूप में निरन्तर चलता रहा। उन्होंने मुख्यतः कविताओं के द्वारा अपना तथा अपने कलाकार का पथ प्रशस्त किया है। उनका कहना है कि

मैं जीवन की समस्त अनुभूतियों को कविता का विषय मानता हूँ लेकिन मेरी अनुभूति में कल्पना और जीवन में मरण भी समाहित है।

उन्होंने निबन्ध, वार्ता, आलोचना, काव्य-संग्रहों की भूमिकाओं के रूप में गद्य भी कम नहीं लिखा। अपनी डायरी और आत्मकथाओं के माध्यम से जो गद्य उन्होंने दिया है वह अपनी प्रांजलता, प्रेषणीयता और प्रौढ़ता के कारण उनकी कविता के लिए भी एक चुनौती सिद्ध हुआ है।

सन् 28 से 32 के बीच लिखीं 28 कविताएं **तेरा हार** के नाम से सितम्बर 1932 में रामनारायण लाल, इलाहाबाद से प्रकाशित हुई थीं। इसमें संबोधन, समर्पण, विदा आदि कविताएं थीं। संबोधन शीर्षक से लिखी कविता-

बुलाऊँ क्यों मैं तुम्हें पुकार
जान लें क्यों सारा संसार।

सन् 29 से 33 से बीच दूसरे भाग का प्रकाशन हुआ। इसमें गांधी जी के विलायत प्रस्थान पर भारतमाता की विदा, सच्ची कविता, कवि और देशभक्त **अतीत की कुछ प्रतिध्वनियाँ** और **मरघट के पद** भी सम्मिलित थे। मरघट के पद की कुछ पंक्तियाँ द्रष्टव्य हैं -

ऊषा ने अपना सिन्दूरी मुखड़ा जब दिखलाया था
समझ गया था उस पर काला परदा भी पड़ जाएगा
मेरे जीवन में जिस दिन मानी मधुशाला आई थी
मुझको था मालूम कि मरघट अपने पास बुलाएगा

सन् 1935 में उन्होंने **ख़ैयाम की मधुशाला लिखी।** ख़ैयाम की रुबाइयों का अनुवाद उन्होंने फिटजजेरालड के अंग्रेजी अनुवाद के आधार पर किया, जो अंग्रेजी साहित्य में मौलिक सृजन का दर्जा बन चुका है।

सन् 35 में मधुशाला प्रकाशित हुई। मधुशाला ने काव्यजगत् में एक धूम मचा दी। अब तक लिखे हुए साहित्य से यह एक दम अलग प्रकार की रचना थी। साधारण लोगों ने इसे केवल मदिरा और मदिरालय तक ही सीमित रखा जिससे कुछ लोगों ने इसकी आलोचना भी की किन्तु वास्तव में यह रचना अपने में जीवन के सर्वाधिक गूढ़ रहस्यों को समाए हुए थी। कुछ साहित्यकारों ने इसे एक नए वाद 'हालावाद' का नाम दिया। जो कुछ भी हो परन्तु एक बात निर्विवाद है कि बच्चन जी की **'मधुशाला'** उनकी सर्वाधिक लोकप्रिय रचना सिद्ध हुई। स्वयं बच्चन जी ने लिखा - 'मधुशाला' की लोकप्रियता मेरे लिए भी समस्या है। मैं उसे हज़ारों की सभा में सैकड़ों बार सुना चुका हूँ, पर आज भी जब कहीं कविता सुनाने खड़ा होता हूँ तो एक स्वर से जनता 'मधुशाला' की मांग करती है। मेरी पुस्तकों में वह 'मधुशाला' सबसे अधिक पढ़ी भी जाती है। मधुशाला का प्रस्तुत उदाहरण देखिए -

मृदु भावों के अंगूरों की आज बना लाया हाला,
प्रियतम, अपने ही हाथों से आज पिलाऊंगा प्याला ;
पहले भोग लगा लूँ तेरा फिर प्रसाद जग पाएगा ;
सबसे पहले तेरा स्वागत करती मेरी मधुशाला।

सन् 1936 में **मधुबाला** लिखी गई। मधुबाला में भी जीवन का विश्लेषण प्रस्तुत किया गया था। जैसे -

मधु कौन यहाँ पीने आता,
है किसका प्यालों से नाता,
जग देख मुझे है मदमाता,

सन् 1937 में **मधुकलश** और सन् 1938 में **निशा निमन्त्रण** लिखी गई। जिसमें कवि ने अपनी स्वर्गीय पत्नी श्रीमती श्यामा के प्रति व्यथित हृदय से पुकार की है। अपने आकुल हृदय में कवि को प्रकृति के हर रूप में अपनी व्यथा ही दिखाई देती है जैसे-

साथी, अन्त दिवस का आया।
जग के विस्तृत अंधकार में,
हमें छोड़कर चली गई, लो, दिन की
मौन संगिनी छाया
साथी अन्त दिवस था आया।

सन् 1939 **एकान्त संगीत**, 1943 में **आकुल-अन्तर**, 1945 में **सतरंगिनी**,1946 में **खादी के फूल**, 1946 में हलाहल, 1946 में ही **बंगाल का काल**, 1948 में **सूत की माला** लिखी गई। सूत की माला गांधी जी को श्रद्धांजलि स्वरूप है। **यथा- उठ गए आज बापू हमारे, झुक गया आज झण्डा हमारा।**

सन् 50 में मिलन यामिनी का प्रकाशन हुआ। जिसमें सन् 45 से लेकर सन् 1949 तक लिखी हुई कविताएं संगृहीत हैं। यह तेजी बच्चन को समर्पित हैं-**स्वप्न में तुम हो, तुम्हीं हो जागरण में इत्यादि।**

सन् 50 से 54 तक की रचनाएं सन् 55 में प्रकाशित **प्रणय पत्रिका** में छपी हैं। यह 59 गीतों का संग्रह है जो इंग्लैण्ड प्रवास के दौरान लिखी गईं। जैसे -

मैं निराला था, निराले देश आया
औ' निराली ही लिए चाहें, उमंगें।

सन् 57 में **धार के इधर उधर** पुस्तक प्रकाशित हुई। इसमें सन् 40 से 56 तक की विशेष अवसरों तथा विशेष मानसिक परिस्थितियों में लिखी हुई कविताएँ संगृहीत हैं।

सन् 58 में लिखीं **आरती और अंगार, बुद्ध नाचघर** अतुकान्त कविताएं हैं। इसके अतिरिक्त आपने समय समय पर। सूर, कबीर, तुलसी, भारतेन्दु हरिश्चन्द्र, मीरा बाई, मैथिलीशरण गुप्त, सांची के शिल्पकार, भुवनेश्वर की प्रणय पत्रिका आदि पर भी कविताएं लिखी हैं।

सन् 58 में ही **जनगीता** छप कर आई। इसमें तुलसीदास जी से प्रेरणा लेकर रामचरित-मानस शैली में गीतासार को लोकभाषा में प्रस्तुत किया। सन् 59 में ओथैलो का हिन्दी अनुवाद प्रस्तुत किया।

सन् 60 में **कवियों में सौम्य सन्त** नामक पुस्तक प्रकाशित हुई जिसमें कवि सुमित्रानन्दन पन्त के व्यक्तित्व और कृतित्व पर प्रकाश डाला गया है। इसमें पन्त जी पर कुछ निबन्ध लिखे हैं तथा कुछ पत्रों का संग्रह है जो पन्त जी ने समय-समय पर बच्चन जी को लिखे थे।

सन् 61 में **त्रिभंगिमा** प्रकाशित हुई। इसमें सन् 50 से 60 के बीच लिखी कविताएं संग्रहीत हैं। जो छन्दोबद्ध, छन्दोमुक्त तथा लोकधुनों पर आधारित हैं। ये ऐसी कविताएं है जिन्हें ढोलक मंजीरे पर सहगान के रूप में प्रस्तुत किया जा सकता है। उत्तर प्रदेश की लोकधुनों पर आधारित गीतों की अधिकता है तथा इंग्लैंड के अनुभवों पर अतुकान्त कविताओं का प्रस्तुतीकरण किया गया है। सन् 62 में **नए पुराने झरोखे** में लगभग तीस वर्षों में लिखे गए निबन्धों एवं वार्ताओं का संकलन किया गया है। सन् 62 में ही **चार खेमे चौंसठ खूंटे** प्रकाशित पुस्तक हुई जिसमें कई प्रकार की कविताओं का संग्रह है जो मैथिलीशरण गुप्त, माखनलाल चतुर्वेदी, गयाप्रसाद शुक्ल तथा उदय शंकर भट्ट तथा सियारामशरण गुप्त को समर्पित की गई हैं। इसमें अधिकतर कविताएं अतुकान्त लिखी गई हैं। यथा बुद्ध के साथ एक शाम कविता से उदाहरण देखिए -

रक्त रंजित साँझ के, आकाश का आधार लेकर।
एक पत्रविहीन तरू, कंकाल सा आगे खड़ा है।
टुनगुनी पर नीड़ शायद चील का, खासा बड़ा है।

तथा आज़ादी के चौदह वर्ष कविता से -

देश के बेपढ़े, भोले, दीन लोगो।
आज चौदह साल से आज़ाद हो तुम।
कुछ समय की भाप का आभास तुमको?

सन् 65 में **दो चट्टानें** कविताओं का संग्रह आया जिसमें लगभग सभी अतुकान्त विचारशील कविताएं हैं। सन् 66 में **चौंसठ रूसी कविताएं** पुस्तक में रूस के चौबीस प्रतिनिधि कवियों की 64 रचनाओं का हिन्दी पद्यानुवाद किया गया है। स्टालिन के समय की कविताएं, 1917 अक्टूबर क्रांति की कविताएं शामिल हैं। अलेक्सेर्ट्र कोल्तसोव की कविता बुलबुल का पद्यानुवाद -

इस गुलाब की सुन्दरता पर
यह बुलबुल मदमाती है,
जब देखो तब उस पर झुककर
मधुमय गीत सुनाती है।

सन् 67 **बहुत दिन बीते** में 69 कविताएं हैं जिसमें सभी अतुकान्त कविताएं हैं।

सन् 68 में **करती प्रतिमाओं की आवाज़** में कवि ने समाज से प्रभावित कविताएं जैसे परिवार नियोजन, सामूहिक प्रयास, चुनौती, राजनीति आदि सामाजिक दिन प्रतिदिन की दग्ध करने वाली घटनाएं हैं।

सन् 69 में बच्चन जी की अति लोकप्रिय पुस्तक 'क्या भूलूं क्या याद करूं' प्रकाशित हुई जिसमें उन्होंने बड़ी सहजता एवं ईमानदारी से आत्मचित्रण प्रस्तुत किया है। अपने परिवार अपनी शिक्षा, मित्रों, रिश्तेदारों तथा जीवन से जुड़ी हर घटना का बेबाकी से चित्रण किया है।

सन् 69 में ही **हेमलेट** के गद्य पद्यानुवाद को पुस्तक रूप में प्रस्तुत किया। इस पुस्तक को उन्होंने अपने पुत्र अमिताभ को समर्पित किया है जिसने उनके हिन्दी ओथैलो के प्रथम प्रदर्शन में कैसियो की भूमिका अदा की थी।

सन् 70 में प्रकाशित **नीड़ का निर्माण फिर** में आत्मचित्रण तेजी बच्चन से विवाह आदि की घटनाओं का वर्णन किया गया है।

सन् 70 में ही **भाषा अपनी भाव पराए** में 11 कश्मीरी, 2 पंजाबी, 1 गुजराती, 1 मराठी, 1 तेलगू, 2 कन्नड़, 2 मलयालम, 1 तमिल, 3 अंग्रेजी और 1 स्पेनी से हिन्दी कविता में रूपान्तरित कविताएं हैं।

सन् 72 में **किंग लीयर** का अनुवाद प्रस्तुत किया। सन् 73 में **टूटी-फूटी कड़ियाँ**, सोपान में निबन्धों का संग्रह है जो श्रीमती जया बच्चन को भेंट किया गया है।

सन् 77 में आत्मकथा **बसेरे से दूर** में अपने देश, नगर, घर, परिवार से दूर इंग्लैंड में विलियम बटलर ईट्स के साहित्य पर शोध के दौरान प्रवास की डायरी शैली में लिखी रचनाएं हैं।

बच्चन जी की रचनाओं में नितान्त मौलिकता तथा व्यापकता है। उसमें समष्टि से लेकर व्यष्टि तक को समेटा हुआ है। भौतिक जगत् से लेकर आध्यात्मिक जगत् तक को अपने गद्य तथा काव्यरूप में प्रस्तुत किया है। उनकी भाषा की विशेषता यही थी कि वह साहित्य जगत् में लोकप्रिय होने के साथ-साथ जनसाधारण में भी लोकप्रिय थी। उनकी रचनाएँ मन को छूने वाले भावों की गहराई से ओत:प्रोत यथार्थ के धरातल पर खड़ी हैं। बच्चन जी की विशेषता रही कि उन्होंने जो भी लिखा ईमानदारी से लिखा शायद इसीलिए पाठकवर्ग में इसकी सहज स्वीकृति हुई। यद्यपि डॉ० हरिवंशराय बच्चन हमारे सामने नहीं है पर उनका साहित्य सर्वदा ही उनकी याद दिलाता हुआ उनको अमरत्व प्रदान कर गया।

-1/309, विकास नगर, लखनऊ।

कर्म-महिमा

- डॉ० सुरेश आत्रेय

विश्व कर्म-प्रधान है। कर्म-संस्कार ही मानव की मूलशक्ति है। इसी के अनुसार जीव के भाग्य का निर्णय होता है। कर्म-भेद से ही जीव अनेक योनियों में भ्रमण करता है। सतोगुण कर्म पुण्य तथा तमोगुण कर्म पाप माना जाता है। सत्वगुण पर चलने वाला व्यक्ति अपना अंत:-करण शुद्ध करके परमानन्द को प्राप्त करता है। तमोगुणी कर्म-मार्ग से मानव अज्ञान तथा कर्मबन्धन में पड़ा रहता है। इसलिए कर्म के प्रति मानव को सजग रहना चाहिए। कर्म की महिमा इस बात से भी जानी जाती है कि प्रलय के बाद चौदह लोकों में नया जीवन जीवों के पूर्व कर्मों के अनुसार ही प्राप्त होता है। कर्म के अनुसार देवतागण अपनी अपनी गतियों को प्राप्त करते हैं तथा संम्पूर्ण ब्रह्माण्ड में देव, ग्रह-नक्षत्र तथा चराचर सभी स्थित और गतिमान् हैं। सात्त्विक-कर्म से जीव को ऊपर के सात लोक प्राप्त होते हैं तथा तामसिक-कर्मों से नीचे के सात। ऊपर के लोकों में आनन्द व नीचे के लोकों में दु:ख-भोग का विधान है।

योगदर्शन के अनुसार कर्म ही सम्पूर्ण अविद्या और अस्मिता रूपी क्लेशों का कारण है। कर्म-संस्कार ही जन्म-मरण चक्र का कारण है। उसके पाप-पुण्य का फल भी इसी चक्र में भोगने को मिल जाता है। महाभारत के अनुसार कर्म-संस्कार प्रत्येक अवस्था में जीव के साथ रहता है। जीव पूर्वजन्म में जैसा कर्म करता है, दूसरे जन्म में वैसा ही फल भोगता है। अपने प्रारब्ध-कर्म का भोग उसे मातृगर्भ से ही मिलना आरम्भ हो जाता है। योगदर्शन के अनुसार कर्म के मूल में जाति, आयु और भोग तीनों निहित रहते हैं। कर्म के अनुसार उच्चवर्ग या निम्न-वर्ग में जीव का जन्म होता है। प्रारब्धकर्म आयु का भी निर्धारक है। कर्म के अनुसार ही बहुत-बार नया शरीर भी धारण करना पड़ता है, यहाँ तक कि शरीर की रचना भी पूर्व कर्मों के अनुसार ही होती है। वेदों में कर्म की महिमा का सर्वाधिक वर्णन है। वेदों के इस प्रकरण को कर्म-काण्ड कहते हैं। जहाँ कर्मों के तीन भेद हैं नित्य, नैमित्तिक तथा काम्य। नित्य कर्म करने से कोई खास फल तो नहीं मिलता किन्तु न करने से पाप अवश्य होता है। नित्य कर्म में त्रिकाल सन्ध्या और पाँच महायज्ञ आदि हैं। पूर्व कर्म के अनुसार वर्तमान समय में जीव प्रकृति की जिस कक्षा पर चल रहा है, उस पर पुन: बने रहने के लिए नित्य कर्म आवश्यक हैं। संसार में जीने के लिए मानव प्रकृति-प्रवाह को आघात पहुँचाता है, उसे अपने जीवन-यापन के लिए नित्य हजारों जीवों की हत्या भी करनी पड़ती है। मानव के श्वास-प्रवास तक में असंख्य जीव हत्या होती है। मनु के अनुसार

भोजन बनाना, सफाई करना, जल संग्रह करना आदि से ही जीवों की हत्या हो जाती है, चाहे यह जाने-अनजाने से ही हो। इन सब पापों के प्रायश्चित्त के लिए भारतीय शास्त्रों में पंच महायज्ञों की व्यवस्था की गई है जो नित्यकर्म में आती है। वर्णाश्रम-धर्म के अनुसार निर्धारित कर्म-वृत्तियां भी उनके नित्यकर्म के अंतर्गत आती हैं। सभी वर्ण अपने कर्म अपने वर्णों के अनुसार करें तो वे अधोगति को प्राप्त नहीं होंगे। इसी प्रकार यही बात राजा के प्रजापालन के संबंध में भी आती है। प्रजा की अराजकता को दूर कर प्रजा के भय को दूर करना ही राजा का कर्म है, ऐसा मनुसंहिता में कहा गया है। शुक्रनीतिसार के अनुसार धार्मिक व प्रजारंजक राजा देवांश होता है, अन्यथा उसे राक्षसांश समझना चाहिए। ऐसा राजा अधर्मी व प्रजापीड़क होता है, वह अशान्ति का विस्तार करता है जिससे सारी प्रजा भी पापी हो जाती है। प्रजा में वर्णसंकरता आती है जिस कारण प्रजा का नाश होना शुरु हो जाता है।

जिन कर्मों के न करने से पाप नहीं होता अपितु उन्हें करके पुण्य अवश्य होता है। जिस प्रकार एक घृणित कार्य करने वाला, कामी, क्रोधी, पापी व्यक्ति साधु, महात्मा के पास बैठ कर कुछ समय तक अपना पापभाव भूल जाता है। उसी प्रकार तीर्थों पर जा कर व्यक्ति सांसारिक मोह छोड़कर मुक्ति पा जाता है। इसी प्रकार पूजा-पाठ, दान, स्नान, देवदर्शन, साधुदर्शन आदि नैमित्तिक-कर्म हैं। यदि यही कर्म किसी कामना के लिए किए जाएं तो काम्य-कर्म हो जाते हैं। मन में कामना ले कर तीर्थ आदि करना काम्य है। नैमित्तिक-कर्म में धर्म-भावना का योग रहता है तथा काम्य-कर्म में कामना का प्रतिफल रहता है। केवल भावभेद से कर्म की शक्ति में अन्तर आ जाता है। इसलिए भावना से कर्मों को तीन भागों में बांटा जाता है जो इस प्रकार हैं- आध्यात्मिक, आधिदैविक और आधिभौतिक। सामान्यतः आधिभौतिक कर्म का संबंध विश्व-भूतों से है। जिसमें भूतों के द्वारा व्यक्ति की मनोकामना फलती है उसे अधिभूत कर्म कहते हैं। ब्राह्मण-भोजन, साधु-भोजन इसी के अंतर्गत आते हैं। इन कर्मों से व्यक्ति इन लोगों की मानसिक शक्ति द्वारा कुछ आशीर्वाद प्राप्त करने का प्रयास करता है। यही मनोकामना जब व्यक्तिगत सुख-कामना और पर-सुख-कामना से मिलकर लोक-मंगलकारी हो जाती है तो उसे आधिभौतिक कर्म कहा जाता है। गरीबों को भोजन देना, अनाथालय बनाना, पाठशाला, चिकित्सालय बनाना आदि इस प्रकार के कार्य हैं। यदि देश में अत्यधिक बरसात, सूखा, अकाल या महामारी आदि का प्रकोप या दुर्घटना आदि हो जाए तो उसे समग्र प्राणियों के पाप का फल समझना चाहिए। इन को दूर करने के लिए परोपकारी व्यक्ति द्वारा किए गए देवयज्ञ आदि दैवी-संस्कार आधिदैविक कर्म कहे जाएंगे। इस प्रकार व्यक्ति का अहंकार उदारता में बदल जाता है, यहां तक कि वह संसार-सुख के लिए कुछ भी करने को तैयार हो जाता है। उस समय उस की व्यक्तिगत सत्ता का इतना विस्तार हो जाता है कि उस की स्वार्थ-बुद्धि समाप्त हो जाती है और परार्थबुद्धि का विकास हो जाता है। ऐसा महात्मा अपनी सत्ता का विस्तार कर के 'वसुधैव कुटुम्बकम्' के सिद्धान्त को भावरूप में अपना लेता है। उसके सभी कर्म

जन-कल्याण के लिए हो जाते हैं। यही आध्यात्मिक-कर्म हैं जो उसकी कर्म-साधना है। भागवत के अनुसार भी चराचर प्राणियों में ब्रह्म की सत्ता प्रत्यक्ष या परोक्ष रूप से विद्यमान है। सब अनेक होकर भी एक हैं। अज्ञान, अन्धकार को दूर करना, समस्त संसार का कल्याण करना उनका धर्म है।

ऊपर के तीन भेदों के अतिरिक्त कर्म के दो भेद अन्य प्रकार से भी हैं सकाम-कर्म और निष्काम-कर्म। सकाम-कर्म वासनामूलक होते हैं। इसमें जिस कामना या वासना से कर्म किया जाता है उसी के अनुकूल फल की प्राप्ति होती है। सकाम-कर्म से पुनर्जन्म होता है और बार-बार जीव कामनाओं को पूर्ण करने में लगा रहता है और निष्काम-कर्म से अपुनरावृत्ति प्राप्त होती है ऐसा श्रीमद्भगवद्गीता का मत है। सकाम-कर्म से पुनर्जन्म से व्यक्ति बंधा रहता है। सकाम-कर्म से पुण्यों के बल से स्वर्ग में सुख भोग कर भी पुण्य-क्षय होने पर मृत्युलोक में आ जाता है। निष्काम-कर्म से जीव वासना-शून्य हो जाता है और उत्तम गति प्राप्त करता है। इसी कर्म द्वारा कुछ ज्ञानी व्यक्ति परमात्मा की सत्ता को जान कर उस विराट्-सत्ता में अपनी सत्ता विलीन कर देते हैं तथा निष्काम-कर्म से मुक्तिपद को प्राप्त होते हैं। भगवान् श्रीकृष्ण जी ने भी गीता में तीन प्रकार के लोगों को उन के कर्मों के अनुसार ही पहचाना है। आसक्तिविहीन, रागद्वेष, और कामरहित वर्णाश्रम के अनुसार किया कर्म सात्त्विक होता है। फलासक्ति, अहंकार तथा आशा से किया कर्म राजसिक तथा भावी आपत्ति का ध्यान न करके मोहवश किया कर्म तामसिक होता है। दूसरों के मान-अपमान की चिन्ता न करने वाला, अविवेकी और अविनयी, शठ, आलसी और दीर्घसूत्री कर्ता तामसिक होता है। सत्त्व, रज और तम आत्मा के तात्त्विक गुण हैं। संसार के प्रत्येक प्राणी में ये गुण न्यूनाधिक मात्रा में होते ही हैं। जिस प्राणी में जिस गुण की आधिक्य होती है उस में उसी के लक्षण अधिक होते हैं यथा सत्त्व-गुणी प्रवृत्ति के व्यक्ति में वेदाभ्यास, तप, ज्ञान, शौच, जितेन्द्रियता तथा परमात्म-चिन्तन के लक्षण मिलते हैं। रजोगुणी प्रवृत्ति के व्यक्ति में सकाम-कर्म में रुचि, अधर्म, लोकविरुद्ध तथा अशास्त्रीय कार्यों का आचरण तथा अत्यधिक भोग के लक्षण मिलते हैं। तमोगुणी व्यक्ति लोभी, आलसी, क्रूर, नास्तिक, याचक और प्रमादी होता है। इस ज्ञान के द्वारा कर्मों को जाना जा सकता है।

कर्ममार्ग के विरुद्ध कर्मसंन्यासियों का सबसे बड़ा आक्षेप यह था कि कर्म से बन्धन होता है; अत: मोक्ष के लिए कर्म-संन्यास आवश्यक है। भगवद्गीता में यह प्रतिपादित किया गया है कि जीवन में कर्म का त्याग असम्भव है। अत: जो कर्म ज्ञानपूर्वक भक्तिभाव से अनासक्ति के साथ किया जाता है उससे बन्धन नहीं होता। इस प्रकार ईश्वरार्पित कर्मों का फल ज्ञान द्वारा मोक्ष है। यही कर्म-यज्ञ की पूर्णता है।

–102, प्रताप कालोनी, माडल ग्राम, लुधियाना-141002

हिन्दी-पत्रकारिता का बदलता स्वरूप

- डॉ० गीता शर्मा

आज जो गतिविधियाँ समाज में चल रही हैं उसे प्रत्येक वर्ग तक पहुँचाने के लिए पत्रकारिता ही एक ऐसा माध्यम है जो यह कार्य कर सकती है क्योंकि मनुष्य का मनुष्य के बीच सम्प्रेषण का यही एकमात्र सूत्र है। पत्रकारिता समाज को सच का आईना दिखाती है। पत्रकारिता लोगों की अभिलाषाओं को इच्छाओं को आकार देती है ताकि आदर्श-समाज की स्थापना हो सके। वस्तुत: "पत्रकारिता शब्द अंग्रेजी के जर्नलिज़्म शब्द का व्यवहृत होता है जो जर्नल से निकला है जिसका अभिप्राय दैनिक है"[1]

"अत: पत्रकारिता वह माध्यम है जिसके द्वारा हम अपने मस्तिष्क में उस विश्व के बारे में समस्त सूचनाएँ संकलित करते हैं, जिन्हें हम स्वत: कभी नहीं जान सकते"[2] इस प्रकार जन-सवेदना के संचार का सर्वसुलभ प्रभावकारी जन-माध्यम पत्रकारिता है। परन्तु जैसे-जैसे समाज में बदलाव आये वैसे-वैसे पत्रकारिता का स्वरूप भी बदल गया क्योंकि नवीनता इस बात का प्रमाण है कि जीवन गतिशील है, आज पत्रकारिता का क्षेत्र भी व्यापक हो गया है और वह भिन्न-भिन्न रूपों में बंट गई है जैसे :-

अनुसन्धानात्मक एवं अन्वेषणात्मक -

अनुसन्धानात्मक एवं अन्वेषणात्मक पत्रकारिता, यद्यपि एक दूसरे के पर्यायवाची हैं परन्तु दोनों में अन्तर है। अनुसन्धानात्मक में किसी महत्त्वपूर्ण घटना, व्यक्ति, तथ्य, अप्रकट दस्तावेज को किसी शोध-प्रणाली में उद्घाटित करने का प्रयत्न किया जाता है जबकि अन्वेषणात्मक पत्रकारिता में तथ्य की सप्रमाण खोज ही मुख्य होती है। इसमें प्रासंगिक विषयों, स्थितियों अथवा कथ्यों का तर्कसंगत अध्ययन किया जाता है। इस प्रकिया के अन्तर्गत दूरदर्शन, आकाशवाणी के विभिन्न कार्यक्रम आते हैं।

आर्थिक पत्रिका :- इस पत्रिका के अन्तर्गत अर्थशास्त्र वाणिज्य, व्यवसाय, कारोबार और तकनीकी-ज्ञान की पत्रिकाएँ आती हैं। क्योंकि जीवन का प्रत्येक क्षेत्र अर्थ से प्रभावित है। 'इ इकोनामिस टाइम्स, दैनिक, अकोला, बाजार,

1. डॉ० राजेन्द्र सिंह, डॉ० देवी सिंह राठौर, पत्रकारिता के विविध आयाम, नई दिल्ली : तक्षशिला प्रकाशन, पृ० 113.
2. वही, पृ० 113.

समाचार व्यापार, भारती और फाईनेन्शियल एक्सप्रेस, जैसे महत्त्वपूर्ण पत्रों द्वारा उद्योग-व्यवसाय की जानकारी दी जाती है। आज दैनिक-पत्रों में व्यापार व्यवसाय, कारोबार, शेयरमार्केट के लिए अलग से स्तम्भ दिये जा रहे हैं।

ग्रामीण पत्रकारिता :- भारत गांवों का देश है आज गांवों में नयी चेतना और वैज्ञानिक विकास के स्वर को समाचारपत्रों द्वारा पहुँचाया जा रहा है। इसमें ग्रामीण कारोबार, गांव की समस्याओं, शिक्षा जीवनशैली, कृषि-उत्पादन, लघु-कुटीर-उद्योग आदि को रखा जा सकता है, यही नहीं कृषकों को फसलों की बिक्री के लिए सही जानकारी देना भी ग्रामीण पत्रकारिता का काम है। आज दैनिक समाचारपत्रों में भी किसानों के लिए स्तम्भ दिये जा रहे हैं। आज बहुत से समाचारपत्रों में आवश्यकता अनुसार ग्रामीण-शब्दावली का प्रयोग भी किया जाता है।

व्याख्यात्मक पत्रकारिता:- ''घटनाओं तथ्यों व स्थितियों का विश्लेषण कर उनकी व्याख्या करना व उसे समय के अनुसार पाठक के समक्ष रखना ही व्याख्यात्मक पत्रिका है''[3] आज की दौड़-धूप के बाद तथ्य एकत्रित करना, मूल कथा बनाना और इन घटनाओं के पीछे कौन-से तथ्य हैं, कौन-सी शक्ति कार्य कर रही है इन सबका पता करना विज्ञान की प्रगति के कारण जानना सुलभ हो गया है क्योंकि आज अनेक समाचार एजेंसियाँ भी यह कार्य कर रही हैं। आज समाचार के विश्लेषण और उसकी पृष्ठभूमि को दिशा-निर्देशित करने की समस्या को व्याख्यात्मक पत्रिका हल करती है।

खेल पत्रकारिता:- वर्तमान समय में खेल तथा खिलाड़ियों की तरफ लोगों की रुचि बढ़ गई है। आज राष्ट्रीयता की भावना ने खेलों को लोकप्रिय बना दिया है आज विभिन्न प्रकार की खेलें जनता को आकर्षित कर रही हैं। आज ओलंपिक, एशिया, अन्तर्राष्ट्रीय प्रतियोगिताओं के आयोजनों ने भी क्रीड़ा-भावना लोगों में पैदा कर दी है। इन सभी में पत्रकारिता अपनी अनूठी भूमिका अदा कर रही है। आज दैनिक समाचारपत्रों में विशेष रूप से खेल से सम्बन्धित जानकारी दी जाती है और इसका अलग से स्तम्भ भी बनाया जाता है।

चित्रपट पत्रकारिता :- जन-जन तक उनके जीवन को समाज, राष्ट्र और साहित्य के प्रतिरूप में पहुँचाने वाला माध्यम चित्रपट है। विश्व में चलचित्र आज एक सम्मानजनक लाभदायक उद्योग बन चुका है। 17 मई 1913 में 'गोविन्द फालके' द्वारा निर्मित 'राजा हरिश्चन्द्र' प्रथम भारतीय चलचित्र है। इसके पश्चात् भारतीय फिल्मक्षेत्र में अनेक नवीन

3. गीता डोगरा, हिन्दी पत्रकारिता आज के सन्दर्भ में।
4. नेहा वर्मा, पत्रकारिता एवं सम्पादन कला, संजय प्रकाशन, दिल्ली- पृ० 10

प्रयोग हुए, आज बहुसंख्या में हिन्दी पत्रिकाएँ फिल्मक्षेत्र को लेकर निकल रही हैं जिनमें फिल्मी कलियाँ, मेरी सहेली, इसके अतिरिक्त पंजाब में बहुत-सी टेलीफिल्में, वीडियो गीत व दूसरे मनोरंजन के एपीसोड तैयार हो रहे हैं जिनकी रिपोर्टिंग की जा रही है।

विज्ञान पत्रकारिता:- आज विज्ञान ने जल व थल पर विजय प्राप्त कर ली है विज्ञान से आज मानव-जीवन का प्रत्येक क्षेत्र प्रभावित है। आज मानवता के विकास में जुड़ी विज्ञान पत्रकारिता जीवन को उन्नत करने में कार्यरत है जिनमें विज्ञान दूत, विज्ञान जगत्, विज्ञान भारती, विज्ञान पुष्प आदि अनेक पत्रिकाएँ हैं। "आज व्यक्ति ही क्या सम्पूर्ण देश अपने विकास के लिए वैज्ञानिक उपलब्धियों के प्रति कृतज्ञ है"।[4]

फोटो पत्रकारिता :- समाचारों से सम्बन्धित चित्र फोटो 'फोटो पत्रकारिता' कहलाती है। वैज्ञानिक उपकरणों, पशुओं, ऐतिहासिक भवनों, प्राकृतिक दृश्यों एवं समारोह स्थल आदि के चित्र समाचार के साथ और बिना समाचार के साथ प्रकाशित जो किये जाते हैं वह फोटो पत्रकारिता के अन्तर्गत आते हैं। इसके अतिरिक्त फोटो पत्रकारिता में चित्रों की प्रिंटिंग, शीर्षक लिखना फोटो की फिनेशिंग भी आती है।

कार्टून और व्यंग्य पत्रकारिता :- कार्टून बच्चों के मनोरंजन का मुख्य कारण बन गया है। आजकल कार्टून और व्यंग्य पत्रिकाएँ पर्याप्त संख्या में निकल रही हैं। व्यंग्य समाज की गतिविधि पर तीखी प्रतिक्रिया है व्यंग्य जब सीधा और तीखा प्रहार करता है तो लक्ष्य की सीमा त्याग देता है और श्रोता हक्का-बक्का रह जाता है। हिन्दी की प्रत्येक पत्रिकाएँ कार्टून और व्यंग्य के लिए स्थान रखती हैं। 'नायिका' 'मोहिनी कार्टून' पत्रकारिता में अपने महत्त्व को दर्शाती हैं।

नारी-जीवन से जुड़ी पत्रकारिता :- नारी-जीवन से जुड़े विषयों को लेकर बहुत से लेख, समाचार व फीचर प्रकाशित किए जाते हैं। आज महिलाओं पर बढ़ रहे अत्याचारों उनके अधिकारों को लेकर समाचार, लेख लिखे जाते हैं। स्वास्थ्य और सौन्दर्य सम्बन्धी स्तम्भ भी पत्र-पत्रिकाओं में प्रकाशित किये जा रहे हैं जिनमें, गृहशोभा, कादम्बिनी, मेरी सहेली इत्यादि प्रमुख हैं।

साहित्यिक पत्रिकाएँ :- आज पत्र-पत्रिकाओं में साहित्य के लिए विशेष पृष्ठ रखा जाता है जिसमें लेखक समाज से प्रभावित होकर किस रचना का सृजन कर रहा है बताया जाता है। इन रचनाओं में कविता, कहानी, निबन्ध, लघुकथा आदि स्थान पाते हैं जो कि समय की मांग के अनुसार प्रकाशित किये जाते हैं। हिन्दी में बहुत से ज्ञानपीठ-प्राप्त लेखक भी पत्र-पत्रिकाओं पर अपने लेख देते रहे हैं जिनमें से डॉ० धर्मवीर भारती, नरेश मेहता, डॉ० रामविलास शर्मा, अमृता प्रीतम इत्यादि प्रमुख रहे हैं।

स्वास्थ्य सम्बन्धी पत्रिकाएँ:- स्वास्थ्य के

क्षेत्र में बहुत-सी पत्रिकाएँ हमें उपलब्ध होती हैं क्योंकि किसी भी राष्ट्र का विकास तभी होगा जब उस राष्ट्र के लोग स्वस्थ होंगे। आज स्वास्थ्य-मंत्रालय समय-समय पर स्वास्थ्य-सम्बन्धी योजनाएँ बताता है जो पत्रिकाओं के द्वारा हमें उपलब्ध होती हैं। आज योगक्रियाओं द्वारा बहुत-सी बीमारियों को दूर किया जाता है। यह सभी ज्ञान हमें योग-पत्रिकाओं के द्वारा ही मिलता है जिनमें योगसन्देश, योगमंजरी काफी प्रसिद्ध पत्रिकाएँ हैं। इसके अतिरिक्त समाचारपत्रों में भी योग की जानकारी दी जाती है क्योंकि योग की जानकारी लोग लेना चाहते हैं। इस प्रकार पत्रकारिता जीवन के विविध पक्षों से जुड़ी हुई है और यह व्यक्ति की समस्याओं और उसके समाधानों को प्रस्तुत करती है क्योंकि आज वह अपने कार्य-प्रकारों द्वारा मनुष्य के हर कार्य व्यवहार, सोच विचार, एवं रुचि में पहुँच गई है।

–सरूप रानी राजकीय **महाविद्यालय**, अमृतसर

जीवगोस्वामी एवम् अन्य काव्यशास्त्रियों के मत में वर्ण

– डॉ० सरिता यादव

काव्यशास्त्र और छन्दशास्त्र दोनों अलग-अलग विधाएँ हैं, किन्तु विश्व की सबसे प्राचीन रचना छन्दोबद्ध ऋग्वेद है। अत: नि:संदिग्ध रूप से कहा जा सकता है कि छन्द और काव्य दोनों सहजात एवं अत्यन्त प्राचीन हैं। छन्द वेद के चरण माने गये हैं और इसलिए वे उस अमर काव्य के अभिन्न अंग वेदांग हैं। वेदों में मुख्यत: गायत्री, उष्णिक्, अनुष्टुप्, बृहती, पंक्ति, त्रिष्टुप्, जगती छन्दों का प्रयोग हुआ है और बाद में लौकिक संस्कृत-काव्यों में इन्ही छन्दों का प्रस्तार एवं विकास हुआ है।

''छन्द'' शब्द का व्युत्पत्तिलभ्य अर्थ यास्काचार्य के अनुसार ''छन्दांसि छादनात्'' अर्थात् कविता का छादन है।[1] छन्द शब्द का अर्थ प्रसन्न करने वाली वस्तु, इच्छा, आच्छादन, बन्धन आदि किया जाता है।[2] लौकिक छन्दों के प्रथन उद्गाता महर्षि वाल्मीकि हैं। बाद में भगवान् वेदव्यास, महाकवि कालीदास, अश्वघोष आदि अनेकानेक कवियों की वाणी ने इसके रूप को विमलता एवं विविधता प्रदान की। आचार्य पिंगलनाग ने छन्दों को शास्त्रीय आधार प्रदान करने के लिए ''छन्द-सूत्र'' की रचना की। बाद में अनेकानेक छन्दोग्रन्थ प्रकाश में आए, जैसे जनाश्रय ने छन्दोविचिति, क्षेमेन्द्र ने सवृत्ततिलक, हेमचन्द्र ने छन्दोनुशासन, केदारभट्ट ने वृत्तरत्नाकर, गंगादास ने छन्दोमञ्जरी, दामोदर मिश्र ने वाणीभूषण एवं दुखभजन कवि ने वाग्वल्लभग की रचना की। काव्यशास्त्रियों ने काव्य के पद्य और गद्य भेदों का आधार छन्दों को माना है। गायत्री उष्णिक् आदि छन्दों से निबद्ध पद्य काव्य होता है।[3] अत: काव्यशास्त्रियों ने छन्दों को भी अपने चिन्तन का विषय बनाया और विशेष रूप से काव्य के आरम्भ में प्रयोग योग्य वर्णों एवं गुणों का विवेचन तथा उसके इष्टानिष्ट फल का वर्णन उन्होंने किया है। काव्यमुख में वर्णों एवं गणों की शुद्धि का निरूपण जीवगोस्वामी ने किया है। जिससे कवि और सहृदय को सुख की प्राप्ति होती है। उनके अनुसार यदि काव्य के आरम्भ में अशुभ वर्णों का प्रयोग होता है तो कवि और सहृदय को अभीप्ट की प्राप्ति नहीं होगी और वे अशुभवर्ण कवि और सहृदय दोनों के लिए अनिष्टकारक होंगे।

1. निरुक्त, पृ. 348
2. शब्दकल्पद्रुम, भाग-2, पृ. 466
3. काव्यादर्श 1/11, अग्निपुराण, 337/21, श्रृंगारार्णवचन्द्रिका, 1/29, साहित्यदर्पण, 6/314

भारतीय आचार्यों ने काव्य की निर्विघ्न समाप्ति के लिए काव्य के प्रारम्भ में मंगलाचरण का विधान स्वीकार किया है। न्यायसिद्धान्तमुक्तावलीकार ने तो शिष्य को शिक्षा देने के लिए मंगलाचरण को लिपिबद्ध करना अनिवार्य माना है।[4]

ध्वन्यालोक लोचनकार व्याख्याता और श्रोताओं के लिए निर्विघ्न रूप से अभिष्ट व्याख्यान और श्रवणरूप फल-सम्पति निमित्त मंगलाचरण का विधान करते हैं।[5] मम्मट भी विघ्नों के समूलोन्मूलन के लिए अपने आराध्य देवता की स्तुति करते हैं।[6] टीकाकार राघवभट्ट, च्रोवल्लभदेव एवं मल्लिनाथ ने अभिलषित की सिद्धि के लिए काव्यारम्भ में मंगलाचरण करना आवश्यक माना है। अत: यह प्राचीन भारतीय परम्परा है कि ग्रन्थकार अपने और अपने पाठकगण के कल्याण के लिए ग्रन्थ के प्रारम्भ में अपने इष्ट-देवता का मंगलाचरण के रूप में ध्यान करता है। जीवगोस्वामी ने इसी मंगलाचरण को ग्रन्थ के आरम्भ में कहा है तथा उसे आशीर्वादात्मक, नमस्कारात्मक, स्तुतिरूपात्मक, वस्तुनिर्देशात्मक एवं सुखानुभूति रूपात्मक माना है। वे अपने ग्रन्थ में स्तुतिरूप में मंगलाचरण करते हुए श्री राधा-कृष्ण परम हरि का गुणगान करते हैं।[7] उनके चरणों का अवलम्बन करते हुए श्रद्धाञ्जलि अर्पित करते हैं एवं श्री हरि को अलंकारों से विभूषित एवं दर्पण प्रदर्शन करते हैं।

भक्तिरसामृतशेष में जीवगोस्वामी ने लघु-गुरु मात्राओं तथा वर्णों को बहुत ही संक्षिप्त रूप में या यूं कहिए उन्होंने इनका संकेतमात्र ही किया है। लेकिन फिर भी इन वर्णों के देवता, शुभ-अशुभ फल होते हैं जिनका निरूपण करना अति आवश्यक है। भामह आदि पूर्ववर्ती आचार्यों ने भी इन वर्णों तथा गणों के फल सम्बंधी मत दिए हैं। जीवगोस्वामी के मतानुसार अ से लेकर क्ष तक के वर्णों में से कुछ शुभावह एवं कुछ अनिष्ट फल देने वाले होते हैं। जिनका निरूपण निम्न है -

अ 'अ' वर्ण आह्लाद देने वाला है। भामह ने 'अ' वर्ण का फल सम्पत्ति-प्राप्ति, अमृतानन्दयोगी ने आह्लाद देने वाला माना है।

इ 'इ' वर्ण का फल प्रसन्नता का वहन करने वाला माना है। भामह, अमृतानन्दयोगी एवं अजितसेन ने भी 'इ' वर्ण से प्रसन्नता-प्राप्ति फल माना है।

उ 'उ' वर्ण को धन प्रदान करने वाला माना है। भामह, अमृतानन्दयोगी ने भी 'उ' वर्ण का फल धन प्रदान करने वाला स्वीकार किया है।

ऋ, ॠ, ऌ, ॡ ये चारों स्वर अपख्याति रूप अशुभ फल देने वाले हैं। भामह, अमृतानन्दयोगी एवं अजितसेन ने भी 'ऋ, ॠ, ऌ, ॡ' वर्णों को अपख्याति देने वाला माना है।

ए, ऐ, ओ, औ - जीवगोस्वामी के मतानुसार ये वर्ण सुखकारी होते हैं। भामह आदि ने भी सौख्य अर्थात् सुख को ऐच् प्रत्याहार के फल के रूप में स्वीकार किया है।

---

4. न्यायसिद्धान्तमुक्तावली, पृ. 5-15
5. ध्वन्यालोकलोचन, पृ. 3
6. काव्यप्रकाश, पृ. 1
7. भक्तिरसामृतशेष, मंगलाचरण, पृ. 1

ङ, ञ, बिन्दू एवं विसर्ग - इन वर्णों का पद के आदि में प्रयोग सम्भव ही नहीं है। भामह का कथन है कि ङ, ञ, ण से रहित एवं भ, र, ब, ह, ल विरहित अक्षर समूह को काव्य के प्रारम्भ में रखना चाहिए। तात्पर्य यह है कि उपर्युक्त वर्णो का प्रयोग काव्य के प्रारम्भ में रखना चाहिए।

क, ख, ग, घ - इन वर्णों को लक्ष्मी रूप श्रेष्ठ फल देने वाले माना है। भामह आदि ने भी इनसे लक्ष्मी-प्राप्ति स्वीकार की है।

च 'च' वर्ण अपख्याति को देता है, किन्तु इसके विपरीत भामह ने 'च' वर्ण से सुख-प्राप्ति स्वीकार की है।

छ 'छ' वर्ण प्रसन्नता एवं सुख को देने वाला है। भामह ने 'छ' वर्ण को प्रीतिकर, अमृतानन्दयोगी ने सुखदायक फल वाला स्वीकार किया है।

ज 'ज' वर्ण मित्रलाभ कराता है। भामह आदि ने ओज वर्ण से मित्रलाभ रूप फल की प्राप्ति मानी है।

झ 'झ' वर्ण को भय और मृत्युरूप वाला माना है। भामह ने भी 'झ' वर्ण को भय और मृत्यु देने वाला बताया है।

निष्कर्ष यह है कि ऋ, ॠ, ऌ, ॡ, ङ, ञ, बिन्दु, विसर्ग, च, झ, ट, ठ, ढ, ण, थ, प, फ, ब, भ, म, र, ल, व, प, ह, ल तथा संयुक्त वर्णो को छोड़कर शेष वर्ण अ, इ, उ, ओ, औ, ए, ऐ, क, ख, ग, घ, छ, ज, ड, त, द, थ, ध, न, य, श, स, क्ष वर्ण शुभ फल वाले होते हैं। इसी प्रकार दुःख-दारिद्रय के वाचक दुष्ट शब्दों का काव्यारम्भ में प्रयोग नहीं करना चाहिए। काव्यारम्भ में प्रयुक्त अशुभ वर्णो एवं गणों का प्रयोग यदि देवता वाचक अथवा भद्रादि अर्थ को बतलाने वाला हो तो काव्यारम्भ में इनका प्रयोग किया जा सकता है। भामह आदि आचार्यों ने भी इसी मत का उल्लेख किया है।[8] अशुभ वर्णों में से अनेक वर्ण विभिन्न कोषों में देवतावाचक एवं मंगलार्थक कहे गये हैं। यथा ऋ - वेदमाता अदिति देवतावाचक है। ॠ- अदिति देवता वाचक है। ऌ - देव जाति की माता है। ॡ - दिति है।[9] च - चन्द्रमा एवं सूर्य का वाचक है। झ - ब्रह्मा वायु का वाचक है। ट - पृथ्वी का वाचक है। ठ - महेश का वाचक है। ण - णकार को उमाकान्त अर्थात् शिव का वाचक माना है। थ - वर्ण संस्कृत-हिन्दी कोश के अनुसार मांगलिक का द्योतक है।

निष्कर्षः- ङ, ञ, बिन्दु, विसर्ग, ढ, फ, ष एवं संयुक्त वर्ण ऐसे वर्ण हैं जिनका काव्य के प्रारम्भ में कभी भी प्रयोग नहीं करना चाहिए।

- गाँव व डा. माजरी कलां, तह. बहरोड़, जिला अलवर (राज.) 301703 ।

8. (क) वृतरत्नाकर की टीका में भामह नाम से उद्धृत पृ. 8 (ख) अलंकारसंग्रह - 1/35

9. एकाक्षरकोश - पुरुषोत्तमदेव, 12, 15

वेदों में विश्व-कल्याण की भावना

- डॉ० विशाल भारद्वाज

सर्वे भवन्तु सुखिनः सर्वे सन्तु निरामयाः।
सर्वे भद्राणि पश्यन्तु मा कश्चिद् दुःखभाक् भवेत्।।

तथा

सर्वत्र सम्पदः सन्तु नश्यन्तु विपदः सदा।[1]

उपर्युक्त भावना से ओत:प्रोत संस्कृत-साहित्य विश्व-कल्याण के लिये दृढ़-सङ्कल्प है। संस्कृत साहित्य किसी एक राष्ट्र-विशेष की नहीं, अपितु समस्त विश्व-कल्याण की बात करता है।

वैदिक साहित्य विश्व-कल्याण की भावना से परिपूर्ण है। अहिंसा, भ्रातृभाव, परस्पर समानता, पारिवारिक एकता, शुद्ध वातावरण, कुरीतियों से रहित समाज आदि अनेक ऐसे तत्त्व हैं, जो विश्व-कल्याण-हेतु परमावश्यक हैं।

आज हिंसा की घटनाओं से सम्पूर्ण विश्व आतङ्क के साये से घिरा हुआ है। अनेक स्थानों पर विशेष कर पाकिस्तान में एक स्कूल में मासूम बच्चों की निर्मम हत्या ने सम्पूर्ण विश्व को दहला दिया है। वैदिक साहित्य में हिंसा की कठोर शब्दों में निन्दा की गयी है। ऋग्वेद का स्पष्ट कथन है कि युद्ध से किसी का भी भला नहीं होता।

"यत्रा नर: समयन्ते कृतध्वजो यस्मिन्नाजा भवति किं च न प्रियम्।[2]"

यजुर्वेद गुरुजनों, बालकों, तरुण पुरुषों, गर्भस्थ शिशुओं, माता-पिता, पुत्र-पौत्रादिकों, पशुओं, शूरवीरों आदि की हिंसा-निषेध की बात करता हुआ विश्व-कल्याण की ओर सङ्केत करता है।[3]

विश्व-कल्याण हेतु परस्पर भ्रातृभाव का निर्देश करते हुये वैदिक साहित्य हमें परस्पर एक-दूसरे को मित्रभाव से देखने एवं एक-दूसरे की रक्षा करने का आदेश देता है -

मित्रस्य चक्षुषा सर्वाणि भूतानि समीक्षे,
मित्रस्य चक्षुषा समीक्षामहे।।

साथ ही ऋग्वेद समस्त विश्व को एक कुटुम्ब मानते हुये सब में बन्धुभाव एवं प्रेमभावना बनाए रखने की कामना करता है।[4]

विश्व-कल्याण तभी सम्भव हो पायेगा, यदि हम परस्पर भ्रातृभाव से जीवन-यापन करेंगे, तथा हमारा वातावरण भय एवं आतङ्क से रहित होगा।

विश्व-कल्याण के लिए वैश्विक एकता की आवश्यकता पर वैदिक साहित्य बल देता है। वैश्विक एकता के अभाव में पृथक्तावाद की कुरीति जन्म ले लेती है। ऋग्वेद का कथन है कि

1. कर्णभार 1.25   2. ऋग्वेद, 7/83/2   3. यजुर्वेद, 16/15-16   4. ऋग्वेद, 1/105/9

वर्षा होने पर मेंढकों में से कोई गाय जैसी बोली बोलता है तो कोई बकरे जैसी आवाज़ निकालता है। कोई चितकबरा है तो कोई हरा। परन्तु विविध रूपों वाले होते हुए भी वे सभी एक ही 'मण्डूक' नाम को धारण कर टरटराते हुये प्रादुर्भूत हो जाते हैं।[5]

यहां वेद का स्पष्ट संकेत है कि मनुष्य भी विश्व-कल्याण के लिए विभिन्न भाषाओं को बोलता हुआ, विभिन्न रूप एवं आकृतियों को धारण करता हुआ 'एक मानव' कहलाकर संसार में क्यों नहीं प्रवृत्त हो सकता?

विश्व-कल्याण के लिए सुदृढ़ शासन-व्यवस्था की अपेक्षा रहती है। वेद का कथन है कि सुदृढ़ शासन-व्यवस्था तभी सम्भव है, यदि राजा एवं प्रजाजन परस्पर सहायक बनकर आनन्दपूर्वक अपनी उन्नति का प्रयत्न करें अर्थात् राजशक्ति एवं प्रजाशक्ति में कदापि वैमनस्य न हो।[6]

वेदानुसार विश्व का कल्याण तभी हो सकता है, जब हमारा राष्ट्र एवं समाज उल्लू जैसे अज्ञानी, भेड़िये जैसे हिंसक, कुत्ते जैसे ईर्ष्यालु, चकवे जैसे कामी, गरुड़ जैसे मदयुक्त तथा गिद्ध जैसे लालची व्यक्तियों से रहित हो, क्योंकि इन प्रवृतियों वाले लोगों से ही समाज दूषित होता है।[7] जैसे व्यक्ति होंगे वैसा ही समाज होगा क्योंकि व्यक्ति में ही समाज निष्ठ है।

विश्व-कल्याण हेतु वेद मलिन कार्य करने वालों, तस्करों तथा चोरों से रहित समाज से ही विश्व कल्याण की अपेक्षा की जा सकती है।[8]

आज औद्योगीकरण की दौड़ में हमने अपने पर्यावरण को अत्यन्त दूषित कर लिया है। इस पर्यावरण दूषण के कारण अनेक भयङ्कर रोगों एवं प्राकृतिक आपदाओं का मनुष्य सामना कर रहा है, जोकि वैश्विक कल्याण के मार्ग में बाधा स्वरूप है। पर्यावरण की शुद्धता से मानव नीरोग रहता है। अत: नीरोग एवं कल्याणमय जीवन हेतु यजुर्वेद वायु, स्यन्दमान नदियों, औषधियों, द्युलोक, पृथ्वी की धूलि, वनस्पतियों आदि में मधुरता की कामना करता है।[9]

विश्व कल्याण की कामना करते हुए यजुर्वेद का कथन है कि न हमारी सन्तान तथा पशुओं को किसी प्रकार का भय हो न ही ये किसी रोग से पीड़ित हों। सभी को सुख-समृद्धि की प्राप्ति हो व हमारे निवास-स्थल उपद्रव रहित हों।[10]

वेद का मानना है कि विश्व कल्याण हेतु मनुष्य को चाहिए कि वह अपने समय का सदुपयोग करते हुये अपनी रुचियों को सृजनात्मक कार्यों में लगाये। जुआ आदि व्यसनों से दूरी बनाये रखे, खेतीबाड़ी करे तथा परिश्रमपूर्वक अर्जित अल्प धन को भी बहुत मानते हुये उससे ही अपनी जरूरतों की पूर्त्ति करें।[11]

विश्वकल्याण हेतु समाज में समानता के भाव की भी अनिवार्यता है। यदि समाज में असमानता होगी तो वह राष्ट्र एवं विश्व के लिए घातक सिद्ध होगी। वेद समस्त जातियों एवं

5. ऋग्वेद, 7/103/6 6. यजुर्वेद, 20/1 7. ऋग्वेद, 7/104/22 8. यजुर्वेद, 11/78
9. यजुर्वेद, 13/27-29 10. यजुर्वेद, 16/47-48 11. ऋग्वेद, 10/34/13

समुदायों में समानता की बात करता है। यजुर्वेद में अग्नि देवता से प्रार्थना करते हुए ऋषि कहता है - ''हमारे ब्राह्मणों, क्षत्रियों, वैश्यों, शूद्रों एवं मुझ में तेजस्विता को स्थापित करो''

रुचं नो धेहि ब्राह्मणेषु रुचं राजसु नस्कृधि।
रुचं विश्येषु शूद्रेषु मयि धेहि रुचा रुचम्।।[12]

यहां तेजस्विता स्थापना की बात किसी जातिविशेष के लिए न कहकर सबके लिये की गयी है।

अतः उपर्युक्त विवरण से स्पष्ट है कि विभिन्न दृष्टिकोणों के माध्यम से वैदिक साहित्य विश्वकल्याण की भावना को प्रदर्शित करते हुए हिंसा, दुराचार, पर्यावरण अशुद्धि, असमानता से रहित विश्व की कामना करता है।

–असिस्टैंट प्रोफेसर, संस्कृत विभाग, गुरु नानक देव विश्वविद्यालय, अमृतसर।

12. यजुर्वेद, 18/48

भक्त से ही भक्ति की सार्थकता

- कु० शालिनी देवी

भक्ति परमात्मा के प्रति अनन्त प्रेम है, वह प्रेम जो निस्वार्थ और निष्कपट हो, किन्तु इस प्रेम की अर्थात् उस भक्ति की तभी सार्थकता है जब भक्त हो। वह भक्त ही है जो भक्ति की महत्ता को बढ़ाता है। भक्ति की वह चरम सीमा भक्त द्वारा ही प्राप्त की जा सकती है, जब उसे परमात्मा का साक्षात्कार प्राप्त होता है। वेद, वेदान्त, आदि सब भक्तों की ही देन हैं।

तुलसीदास के अनुसार 'राम से बढ़कर राम के भक्त हैं।' भक्त स्वयं भगवान् को प्रिय होता है, परन्तु कभी कभी भक्त के भजन करने पर भी वे उसमें उतनी रुचि प्रदर्शित नहीं करते, परन्तु उसका कारण वे अपने और भक्त के बीच बदले हुये सम्बन्ध को नहीं मानते अन्यथा उसका कारण वे साधक भक्त में भगवान् के लिये अधिक व्यग्रता उत्पन्न करना मानते हैं। जिस प्रकार किसी दरिद्र को प्राप्त धन के नष्ट होने से अत्यन्त व्याकुलता होती है, उसी प्रकार भक्त को परमात्मा की झलक पाकर फिर ओझल हो जाने पर होती है[1]।

यों तो स्वयं भगवान् (कृष्ण) के वाक्य हैं कि-हे द्विज मैं भक्तों के अधीन हूँ, स्वतन्त्र नहीं हूँ, मेरे हृदय पर भक्तों का पूर्ण अधिकार है। भक्त मुझे बहुत प्रिय हैं। इन चार वाक्यों में भक्तों के भगवान् के साथ उत्तरोत्तर बढ़ते हुये सम्बन्ध तथा अधिकार का प्रदर्शन है।[2]

जिन भक्तों का भगवान् से सम्बन्ध है तथा भगवान् भी जिनके वशवर्ती हैं। उनके जीवन-यापन की गतिविधि यही है कि भगवान् के वियोग में वे कभी रो उठते हैं। कभी हंसते हैं, कभी प्रसन्न होते हैं। कभी अलौकिक भाव में स्थिर होकर कुछ बड़बड़ानें लगते हैं। कभी नृत्य करते हैं। कभी गाते हैं। कभी परमात्मा को खोजने लगते हैं और कभी परमशान्ति का अनुभव करके शान्त हो जाते हैं[3]।

गीता में विराट रूप में दर्शन देने के पश्चात् भगवान् श्रीकृष्ण के वचन हैं - मैं दान, तप, यज्ञ द्वारा इस प्रकार प्रत्यक्ष नहीं किया जा सकता। जिस प्रकार कि तुमने देखा है[4]-

नाहं वेदैर्न तपसा न दानेन न चेज्यया।
शक्य एवंविधो द्रष्टुं दृष्टवानसि मां यथा।।

जो केवल मेरे लिये ही कर्म करने वाला, मुझ में गति वाला मेरा भक्त, सम्पूर्ण आसक्तियों से रहित तथा सम्पूर्ण भूतों से निर्वैर है। वह मुझे ही प्राप्त होता है।[5]

1. भागवत, १०/३२/२० 2. वही, ६/४/६३,
5. वही- ११/५५
3. भागवत,11.3.32 4. वही- ११/५४

चैतन्य महाप्रभु समाधि सुख की ही भाँति भक्ति सुख को ही स्वतन्त्र पुरुषार्थ मानते हैं। परमानन्द रूप होने से भक्तियोग पुरुषार्थ है। सर्वसाधारण पुत्र, वित्त तथा लोक इन्हीं तीनों ऐषणाओं के चक्र में पड़े रहता है। परन्तु भक्त उनसे उदासीन केवल भक्ति में रति रखता है।[6]

तुलसीदास जी कहते हैं कि परमात्मा यद्यपि ज्ञान व कर्मयोग से भी प्राप्त किया जा सकता है। परन्तु परमात्मा को सबसे अधिक प्रिय केवल भक्त ही है जैसे एक पिता के कई पुत्र हों जिसमें से प्रत्येक ज्ञानी, पंडित, तपस्वी, धनवान् , वीर, धर्मज्ञ, सर्वज्ञ तथा सब प्रकार से योग्य हों परन्तु उनमें से यदि कोई गुणों से हीन हो, पर मन, वचन, कर्म से पितृभक्त हो तो पिता का यद्यपि सभी पुत्रों पर समान स्नेह होगा किन्तु पितृभक्त विशेष स्नेह का पात्र होगा। इसी प्रकार भगवान भी सतत प्रभुचिन्तन में रत अनन्यभाव से भक्ति करने वाले अपने भक्त पर विशेष कृपादृष्टि रखते हैं।

तुलसीदास जी इसी दिशा में कहते हैं कि भगवान् भक्त की रक्षा उसी प्रकार करते हैं जिस प्रकार पलकें नेत्र गोलकों की करती हैं।[7]

भगवान् अपने प्रति किये गये अपराध से भी अपने भक्त पर कुपित नहीं होते। परन्तु अपने भक्त के प्रति किये गये अपराध को किसी प्रकार भी क्षमा नहीं करते। यद्यपि भगवान् को समदर्शी, रोग द्वेष रहित तथा निर्गुण कहा जाता है। पर वे भक्त के प्रेमी से प्रेम तथा शत्रु से उन्हें द्वेष होता है।[8]

श्री राम किसी भी समय अपने भक्त की चिन्ता से मुक्त नहीं होते। कामदेव से प्रसन्न होकर उसे विश्व-विजयी होने का वर देते समय भी उन्हें अपने भक्तों का ध्यान बना रहा तथा काम को मदान्ध होकर भगवत्-भक्तों को दु:ख न देने का आदेश दिया। यही कारण है कि भगवान् के भक्तों को कभी कामदेव पीड़ित नहीं करता। अत: भक्तों के बिना भक्ति नहीं हो सकती। भक्त का भक्ति से सम्बन्ध प्रगाढ़ है। जिसे शब्दों से व्यान नहीं किया जा सकता। बल्कि भक्ति करके अनुभव किया जा सकता है।

–शोधछात्रा वी.वी.बी.आई. एस. एण्ड आई० एस०
पंजाब विश्वविद्यालय (साधु आश्रम), होशियारपुर

6. भक्तिरसामृतसिन्धु 7. वहीं आ० का० १४१.१ 8. तुलसी रा० आयो० का० २.१८४

शंकराचार्य के अनुसार भक्ति

- सुश्री सीमा कुमारी

भज् धातु से "स्त्रियां क्तिन्"[1] से क्तिन् प्रत्यय से भक्ति शब्द सिद्ध होता है। जिसका व्युत्पत्तिपरक अर्थ है- सेवाभाव या भजन करना। उस अनन्त, गुणातीत, परमकृपालु भगवान् की सेवा कर अहंभाव को सन्तुष्ट करना ही भक्ति कहलाता है[2]। भक्ति की अनेक परिभाषाएँ समय समय पर भक्तों या विद्वानों द्वारा की गई हैं। देवी भागवतपुराण में पूजनीयों के प्रति अनुरागभाव भक्ति कही गई है।[3] भक्त शिरोमणि में कहा गया कि - "दुर्लभ भक्ति को प्राप्त कर सिद्ध पुरुष अमर हो जाते हैं[4]।"

भगवद्गीता के अनुसार जिसको प्राप्त करने पर अन्य कोई वस्तु प्राप्त करने योग्य नहीं रहती वह भक्ति है[5]।

भक्तिरसायन में -

सर्वेश्वर के प्रति अक्षुण्ण बना रहने वाला आकर्षण ही भक्ति कहा गया है।।[6]

शंकराचार्य के अनुसार -

भक्ति मोक्ष के कारण में महान् है।[7]

उपर्युक्त परिभाषाओं के अनुसार लिखा जा सकता है कि परमात्मा के साथ हमारा अक्षुण्ण प्रेमभाव ही भक्ति है। जहां साधक दो पल के लिए भी परमात्मा से अलग नहीं हो सकता।

इस दिशा में यद्यपि आदिगुरु शंकराचार्य, रामानुज, मध्वाचार्य, वल्लभाचार्य, चैतन्य महाप्रभु इत्यादि अनेक विद्वानों द्वारा भक्तिपरक अनेक तथ्य उपस्थित किए गए, लेकिन उन में से 32 वर्ष की छोटी सी आयु में शंकराचार्य ने सगुण, निर्गुण भक्ति, आचार के मौलिक सिद्धांतों तथा विविध भाष्यों में सामञ्जस्य स्थापित किया। भक्ति परम्परा में दो प्रकार की भक्ति मानी गई है।

1. सगुण। 2. निर्गुण।

एक ही ब्रह्म को राम, कृष्ण, शिव, दुर्गा इत्यादि अनेक रूपों में साकार मानकर उनका पूजन, अर्चन, गुणकथन आदि सगुण भक्ति है। निर्गुण, निर्विकार, निराकार ब्रह्म का चिंतन मनन करना निर्गुण भक्ति कहलाती है।

वास्तव में शंकराचार्य भक्ति के इन दो रूपों में से निर्गुणोपासक थे। लेकिन सगुण भक्ति को वे निर्गुण, निर्विकार परमात्मा को प्राप्त करने का

1. अष्टाध्यायी- 3/3/94
2. बृहत् हिन्दी कोश-सम्पा० कालिकाप्रसाद पृ० 831
3. देवीभागवत - 7/31
4. नारदभक्तिसुत्र, 2.3.4.
5. गीता, 6.22
6. भक्तिरसायन - सरस्वती मधुसूदन- 1/3
7. विवेकचूड़ामणि - शंकराचार्य - 32/33

सोपान मानते हैं। उनके अनुसार पूज्य-पूजक भाव से पहले द्वैत स्थापित कर फिर अद्वैत की स्थापना करनी चाहिए।[8]

शंकराचार्य के अनुसार मंदबुद्धि लोगों को सीधे निरुपाधिक निर्विशेष ब्रह्म का ज्ञान देना ठीक नहीं क्योंकि वे तर्कातीत होने के कारण उसे ग्रहण नहीं कर पाते। अत: उन्हें पहले सोपाधिक उपासना से निरुपाधिक उपासना की ओर ले जाना चाहिए।[9] उनके अनुसार मूर्त्त तथा अमूर्त्त उसी ब्रह्म के रूप हैं। चाहे किसी की भी उपासना करो।[10] उनके अनुसार वैसे तो ब्रह्म का कोई निश्चित स्थान नहीं है। लेकिन लोगों को निर्विशेष ब्रह्म का स्वरूप समझाने के लिए यदि उस ब्रह्म को शिव, विष्णु आदि प्रदेशों में ही रखा जाए तो अनुचित न होगा।[11]

वस्तुत: शंकराचार्य सगुणोपासक नहीं थे शंकराचार्य। वह मोक्ष की प्राप्ति में प्रथम सोपान सगुण उपासना को ही मानते थे। उनके द्वारा पंचदेवोपासना पद्धति की स्थापना तथा विविध भक्तिपरक स्तोत्रों की रचना इस बात का प्रमाण है।

शंकराचार्य द्वारा विरचित गोविन्दाष्टक में विष्णु के सगुण रूप की उपासना के साथ-साथ उसी को निर्गुण, निर्विकार ब्रह्म भी बताया है। उनके अनुसार विष्णु ने ही अनेक रूप धारण किए जो वास्तव में एक ही है।[12] शंकराचार्य के अनुसार वह परमात्मा एक ही है। जो निर्गुण निर्विकार है लेकिन लोगों द्वारा वह उसी प्रकार अनेक रूपों में जाना जाता है। जैसे- ''चन्द्रमा एक होते हुए भी पानी से भरे विविध पात्रों में अनेक प्रकार से प्रतिबिंबित होता है।[13] शिव स्तोत्र में कहते हैं कि परमात्मा न पृथ्वी, न जल, न अग्नि, न वायु, न आकाश है। लेकिन अपने भक्तों के लिए त्रिमूति अर्थात् ब्रह्मा, विष्णु, महेश रूप में वर्णित है।[14] उनके मतानुसार उनमें ब्रह्म तथा जीव में अभेद होते हुए भी भेद रहता है। जब तक उसे ज्ञान नहीं हो पाता है।[15]

अत: निष्कर्ष रूप से कहा जा सकता है कि शंकराचार्य निर्गुण की प्राप्ति में सगुण को सोपान मानते हैं। उन्के अनुसार भक्ति के द्वारा उसका साक्षात्कार किया जा सकता है।

—वी०वी०बी०आई० एस० एण्ड आई० एस०, होशियारपुर

---

8. केन उपनिषद् शां० भा० - 3/9
9. केन उप० शां० भा० 4/5
10. प्रबोधसुधाकर - शंकराचार्य - 169/7
11. ब्र० सू० शां० भा० - 1/1/24
12. गोविन्दाष्टक - शंकराचार्य - 1
13. विष्णुस्तोत्र, शंकराचार्य - 27
14. शिव स्तोत्र शंकराचार्य - 6
15. षट्पदिस्तोत्र, शंकराचार्य - 3

संस्थान समाचार

अनुदान -

डी.ए.वी. कालेज मैनेजिंग कमेटी,
चित्रगुप्त रोड़, नई दिल्ली। 5,00,000/-

दान-

प्रो. एन. के. डोगरा,
ए-2, पंजाबी विश्वविद्यालय,
पटियाला । 500/-

डॉ. एस. के. वर्मा,
डिप्टी लाईब्रेरियन, पं. यू.,
वी.वी.बी.आई.एस.एण्ड आई. एस,
होश्यारपुर। 1000/-

श्री जी. के. शर्मा,
मार्टन, टैननसी यू.एस.ए.। 6591/-

श्री वीरेन्द्र कुमार शर्मा,
निकट रुक्मनी स्कैन सैंटर,
चण्ड़ीगढ़ रोड़, होशियारपुर। 500/-

श्री बृज मोहन,
वी.वी.आर.आई., होशियारपुर। 251/-

श्री आर. के. जैन, श्रेयान्स इंडिया,
प्रगति भवन, निकट एस.डी. सिटी
पब्लिक स्कूल, होशियारपुर। 3100/-

डॉ. रेणु
प्रो. एवं चैयरमैन पब्लिक एडमिनिस्ट्रेशन,
पंजाबी यूनिवर्सिटी, पटियाला। 1000/-

हवन-यज्ञ-

विश्वेश्वरानन्द वैदिक शोध संस्थान के कार्य-दिवस का शुभारम्भ प्रतिसप्ताह के प्रथम दिन सत्संग-मन्दिर में हवन-यज्ञ से हुआ।

अक्टूबर , 2015 के द्वितीय रविवार को संस्थान के सत्संग-मन्दिर में परमपूज्य स्वामी सत्यानन्द जी महाराज के द्वारा चलाई गई परम्परानुसार उनके भक्तों के द्वारा अमृतवाणी का संकीर्तन भी नियमित रूप से किया गया।

आचार्य विश्वबन्धु जयन्ती -

30-9-2015 को संस्थान में स्व. पद्मभूषण आचार्य डॉ. विश्वबन्धु जी की जयन्ती मनाई गई। प्रातः 10 बजे सत्संग मन्दिर में हवन-यज्ञ के पश्चात् श्रद्धांजलि-सभा का आयोजन किया, जिसमें पंजाब विश्वविद्यालय पटल के तथा वी.वी.आर.आई. के सभी प्राध्यापक वर्ग प्राध्यापिकाएं, कर्मिष्ठों एवं छात्र-छात्राओं एवं नगर के प्रतिष्ठित व्यक्तियों ने भाग लिया। इस अवसर पर नगर के प्रतिष्ठित नागरिक तथा बाल-विकास परिषद्, होशियारपुर के अध्यक्ष श्री कुलदीपराय जी गुप्ता मुख्य अतिथि के रूप में संमिलित हुए। सर्वप्रथम प्रो. रघुवीरसिंह जी ने संस्थान की विशेषताओं को दर्शाते हुए आचार्य जी को श्रद्धांजलि दी। बाद में पंजाब विश्वविद्यालय पटल के चेयरमैन प्रो. प्रेमलाल शर्मा ने संस्थान में किये जा रहे और किये जाने वाले कार्यों पर प्रकाश डालते हुए आचार्य जी को श्रद्धांजलि दी तथा प्रिं. उमेशचन्द्र जी ने भी अपने संस्मरण सुनाते हुए आचार्य जी को श्रद्धांजलि दी। तदनन्तर अध्यक्ष, श्री कुलदीपराय जी

गुप्ता ने लाहौर से लेकर होशियारपुर तक के संस्थान के सफर पर अपने विचार प्रकट करते हुए आचार्य जी की कर्मठता तथा वैदिक कार्य के प्रति लग्न की प्रशंसा करते हुए श्रद्धांजलि दी। अन्त में डॉ. त्रिलोचनसिंह बिन्द्रा ने अध्यक्ष जी का तथा सभा में उपस्थित सभी अभ्यागतों का धन्यवाद किया। सभा के अन्त में सभी उपस्थित जनों के लिए भोजन का प्रबन्ध किया गया।

स्वागत-समारोह -

3-10-2015 को वी.वी.आर.आई तथा पंजाब विश्वविद्यालय पटल की ओर से किए गए स्वागत समारोह में पंजाब सरकार के पर्यटनमंत्री, माननीय श्री सोहन सिंह ठंडल जी साधु आश्रम में पधारे। उनके साथ राज्यसभा सदस्य, श्री अविनाशराय जी खन्ना एवं होशियारपुर के वार्ड नं. 4 की पार्षद श्रीमती नीति तलवाड़ जी भी पधारे। सर्वप्रथम सभी ने संस्थान के पुस्तकालय का अवलोकन किया। तदनन्तर संस्थान में स्थित पंजाब सरकार के म्यूजियम को भी देखा।

इसके अनन्तर मंत्री जी के सम्मान में समागम हुआ जिसमें मंत्री जी को संस्थान की समस्याओं से परिचित कराया गया और इसी संदर्भ में एक मांगपत्र भी उन्हें दिया गया। इसके उपरान्त पंजाब विश्वविद्यालय पटल के चेयरमैन प्रो. प्रेम लाल शर्मा ने संस्थान परिचय दिया। तत्पश्चात् श्री अविनाशराय खन्ना जी ने अपने विचार प्रकट किए। अन्त में मंत्री जी ने प्रस्तुत की गई मांगों के संबंध में कहा कि इनका पूरा ब्यौरा तैयार कर यथासंभव इनका निपटारा किया जाएगा। इस अवसर पर श्री अविनाशराय खन्ना जी की मानवाधिकार पर लिखी पुस्तक का भी विमोचन किया गया। अन्त में वी.वी.आर.आई. के संचालक, प्रो. इन्द्रदत्त उनियाल जी ने संस्थान में पधारने के लिए मंत्री जी का एवं श्री अविनाशराय खन्ना, पार्षद नीति तलवाड़ तथा अन्य सभी का धन्यवाद किया।

तम्बाकू नशा छुड़ाओ मुहिम -

18-9-2015 को संस्थान के सेमिनार हाल में तम्बाकू नशा छुड़ाओ मुहिम की ओर से सेमिनार का आयोजन किया गया। जिसमें डॉ. गुलविन्दरसिंह, चेयरमैन, पुनर्वास विभाग तथा मिस संदीप कुमारी, परामर्शदात्री नशा विरोधी जागरूकता मुहिम ने तम्बाकू के सेवन से होने वाली हानियों के बारे में विस्तार से जानकारी दी। उन्होंने बताया कि तम्बाकू के सेवन से दमा, कैंसर और आदि बीमारियां हो जाती हैं। उन्होंने कहा तम्बाकू का असर खून में हो जाता है और दिमाग पर भी असर करता है तम्बाकू में होने वाला निकोटिन मुंह के कैंसर का कारण बनता है। उन्होंने उपस्थित छात्रों तथा अन्य सभी को इस मुहिम में भाग लेने को कहा। इसके लिए सरकार द्वारा पुनर्वास केन्द्र भी खोले गए हैं जहां नशा-सेवन के आदी लोगों का समुचित इलाज किया जाता है।

बधाई -

इस वर्ष भाषा-विभाग पंजाब द्वारा पंजाब में संस्कृत-क्षेत्र में कार्यरत डॉ. शशिधर शर्मा, डॉ. भूषण लाल शर्मा तथा श्री लेखराम परवाना को पंजाब साहित्य शिरोमणि पुरस्कार से सम्मानित किया गया। इस सम्मान प्राप्ति के लिए उक्त सभी विद्वानों को संस्थान की ओर से बहुत-बहुत बधाई।

संस्थान समाचार

शोक समाचार -

विश्वेश्वरानन्द वैदिक शोध संस्थान तथा पंजाब विश्वविद्यालय पटल, साधु आश्रम के कर्मिष्ठों तथा छात्रों की एक शोकसभा दिनांङ्क 15-10-2015 को वी.वी.आर.आई (साधुआश्रम)परिसर में की गई। जिसमें हिन्दीमिलाप के मुख्य सम्पादक श्रीविश्वकीर्ति जी (श्रीबिक्कीजी) के 59 वर्ष की आयु में दिल्ली में निधन पर शोक-प्रस्ताव पारित किया गया। श्री बिक्की जी की प्रसिद्धि एक निर्भीक पत्रकार के रूप में तो थी ही, साथ ही आप एक अच्छे लेखक भी थे। समाजसेवा तो आपको विरासत के रूप में मिली थी, क्योंकि यह परिवार स्वतन्त्रता-संग्राम में बहुत पहले से ही जुड़ा हुआ था। आपके परिवार का आर्यसमाज से भी पुराना सम्बन्ध रहा है। स्व. श्री विश्वकीर्ति जी के पिता स्वनामधन्य यश जी का इस संस्थान से बहुत नजदीकी रिश्ता था, इसके अतिरिक्त श्री विक्की जी के दादा जी मिलाप समाचारपत्र के संस्थापक आर्यसमाज के प्रतिष्ठित सन्त महाशय खुशहाल चन्द जी की आचार्य विश्वबन्धु जी के साथ घनिष्ठता थी। श्री महाशय जी ने जब संन्यास लिया था तब से वे महात्मा आनन्द स्वामी नाम से प्रसिद्ध हुए तब आप कुछ दिन साधु आश्रम में भी रहे। श्री यश जी तो कई बार साधु आश्रम आते रहे हैं क्योंकि वे पंजाब सरकार में मंत्री और लोकसभा के सदस्य थे। इस प्रकार लाहौर से ही वी. वी. आर. आई. के साथ इस परिवार का सम्बन्ध रहा है। इसी परिवार से संबधित डी. ए. वी. कॉलेज मेनैजिंग कमेटी के प्रधान आर्यरत्न पूनम सूरी जी वर्तमान में वी. वी. आर. आई. के प्रधान हैं। आर्यपरिवार में उत्पन्न, पालित-पोषित स्व. श्री विश्वकीर्ति में पारिवारिक सद्गुण, परम्पराएं विद्यमान थीं। इस प्रकार आप जैसे लेखक, समाज-सेवक, निर्भीक पत्रकार के निधन से परिवार की जो क्षति हुई है वह अकथनीय, असहनीय तो है ही साथ ही पत्रकारिता तथा सामाजिकता के रूप में समाज को जो क्षति हुई है उसकी भरपाई होना सम्भव नहीं।

इस शोक-सभा में संस्थान के सभी कर्मिष्ठों की ओर से दिवंगत आत्मा को श्रद्धांजलि अर्पित की गई तथा परमपिता परमात्मा से प्रार्थना की गई है कि वह इस पवित्र आत्मा को अपनी शरण में लेते हुए उनके परिवार, उनके भाई-बन्धुओं, सम्बन्धियों उनसे सम्बन्धित सभी को इस दु:ख को सहन करने की शक्ति प्रदान करें।

अन्त में उनकी आत्मिक शान्ति के लिए गायत्रीमन्त्र के पाठ के पश्चात् दो मिनट का मौन रखा गया।

पंजाब विश्वविद्यालय पटल, के पुस्तकालय में चौकीदार पद पर कार्यरत श्री अशोक कुमार जी का दिनांक 7-10-2015 को तलवाड़ा के पास अपने गांव में में 56 वर्ष की अल्पायु में हृदयगति रुक जाने से देहान्त हो गया।

इस दु:खद अवसर पर संस्थान के कर्मिष्ठों की शोकसभा में श्री अशोक कुमार जी के निधन पर शोकप्रस्ताव पढ़ा गया और दो मिनट का मौन रखा गया। प्रभु से प्रार्थना की गई कि वह दिवंगत आत्मा को तथा उनके दु:खी परिवार को शान्ति प्रदान करे।

विविध समाचार

परोपकारिणी सभा, के सरगंज अजमेर के तत्त्वावधान में १३२ वाँ ऋषि बलिदान समारोह दिनांक २०, २१, २२ नवम्बर २०१५, शुक्र, शनि, रविवार - महापुरुषों का यज्ञमय जीवन हमको प्रत्येक कदम पर प्रेरणा व मार्गदर्शन देता रहता है, जिसके कारण हम उनके ऋणी हो जाते हैं। इस ऋण से मुक्त होने का एक ही उपाय है- महापुरुषों की विचारधारा का यथासामर्थ्य प्रचार-प्रसार। विराट व्यक्तित्व महर्षि दयानन्द की समग्र मानव-जाति ऋणी है। इस ऋण को चुकाने का स्वर्ण-अवसर ऋषि के १३२ वें बलिदान वर्ष के उपलक्ष्य में हमको प्राप्त हुआ है। इस अवसर पर परोपकारिणी सभा भव्य समारोह का आयोजन करने जा रही है।

ऋग्वेद पारायण यज्ञ- १६ नवम्बर से 'ऋग्वेद पारायण यज्ञ' का आरम्भ किया जायेगा, इस यज्ञ की पूर्णाहूति बलिदान समारोह के अन्तिम दिन २२ नवम्बर को प्रात: १० बजे होगी। यज्ञ के ब्रह्मा श्री सत्यानन्द वेदवागीश होंगे। यह यज्ञ ऋषि-उद्यान, अजमेर की यज्ञशाला में होगा।

वेदगोष्ठी - प्रतिवर्ष की परम्परा के अनुसार इस वर्ष भी अन्तर्राष्ट्रीय दयानन्द वेदपीठ दिल्ली एवं अनुसन्धान केन्द्र परोपकारिणी सभा के संयुक्त प्रयास से वेदगोष्ठी का आयोजन किया जायेगा। इस गोष्ठी में देश के विविध विद्वान् अपने शोधपूर्ण मौलिक विचार प्रस्तुत करेंगे। इस वर्ष वेदगोष्ठी का विचारणीय बिन्दु है - **भारतीय मत सम्प्रदाय और वेद**। जो विद्वान् गोष्ठी में शोधपत्र प्रस्तुत करना चाहते हैं, वे 30 अक्टूबर तक सभा के पते पर प्रेषित करवा देवें। २०,२१,२२ नवम्बर को ऋषि बलिदान समारोह के कार्यक्रमों के साथ-साथ वेदगोष्ठी भी चलती रहेगी। ऋषि-भक्त इसे सुनने का लाभ उठा सकते हैं।

चतुर्वेद कण्ठस्थीकरण वेद प्रतियोगिता - प्रतिवर्ष आयोजित की जाने वाली इस प्रतियोगिता में २१ वर्ष तक के छात्र भाग ले सकते हैं। किसी भी वेद को आद्योपान्त स्मरण करके इस प्रतियोगिता में भाग लिया जा सकता है। जो छात्र जिस वेद पर गत वर्षों में पारितोषिक ग्रहण कर चुके हैं, वे उस वेद से अतिरिक्त वेद स्मरण करके भाग ले सकते हैं। २० नवम्बर को परीक्षा एवं २१ नवम्बर को पुरस्कार-वितरण का कार्यक्रम होगा। जो छात्र इस प्रतियोगिता में भाग लेना चाहते हैं, वे अपने-अपने गुरुकुलों, आश्रमों, संस्थानों से आचार्य द्वारा अधिकृत पत्रक पर २ छायाचित्र सहित अपना परिचय ३० अक्टूबर, २०१५ तक आचार्य महर्षि दयानन्द आर्ष गुरुकुल, ऋषि उद्यान, अजमेर के पते पर भेज दें।

सम्मान- प्रतिवर्ष विशिष्ट वैदिक विद्वान्, विदुषियों एवं कार्यकर्त्ताओं को इस समारोह में सम्मानित किया जाता है। इस वर्ष भी सम्मान समारोह होगा। जिसमें विद्वान्-विदुषियों एवं कार्यकर्त्ताओं को सम्मानित किया जायेगा।

निबद्धाः सज्जना नैव सीमायां देश-कालयोः।
तेषामाचरणं पूतं दीपस्तम्भायते सदा॥

सुभाषित सप्तशती, 276

इस संसार में भले ही सभी किसी न किसी सीमा में बंधे हुए हों पर सज्जन व्यक्ति देश और काल की सीमा से मुक्त होते हैं, क्योंकि उनका पवित्र आचरण सदा ही सभी के लिए एक मार्गदर्शक के रूप में, दीपक के स्तम्भ के समान होता है अर्थात् सज्जन पुरुषों का आचरण उनकी ख्याति को देश-देशान्तर में फैला देता है। वे सर्वदा यश:काय से जीवित रहते हैं।

स्व. सेठ श्री चिरञ्जीलाल जी अग्रवाल

[जिनका निधन दिनाँक 9. 8. 95 को 88 वर्ष की आयु में हुआ]

जो महान् दानवीर और धार्मिक व्यक्तित्व रखने वाले थे,

की पावनस्मृति में

प्रयोजक :

श्री शंकर लाल अग्रवाल

सर्वश्री नवयुग वस्त्रालय, अदालत बाजार, पटियाला-147001

धर्माद् अर्थः प्रभवति धर्मात् प्रभवते सुखम्।
धर्मेण लभते सर्वं धर्मसारमिदं जगत्॥

वाल्मीकि रामायण 3,9,30

धर्म से धन की प्राप्ति होती है। धर्म से सुख प्राप्त होता है। धर्म से मनुष्य सभी कुछ प्राप्त कर लेता है। अत: धर्म ही इस संसार का सार है।

अपनी पूज्या माता

स्व. श्रीमती तारावती जी अग्रवाल

[पत्नी – स्व. श्री रामकरण जी]

[जिनका निधन 15.11.1993 को हुआ]

तथा

स्व. श्रीमती पुष्पावती जी

[पत्नी – लाला प्यारेलाल गुप्ता]

[जन्म : 16-9-1933, निधन : 9-5-1972]

की

पुण्यस्मृति

में

प्रयोजक :

श्री प्यारेलाल गुप्ता, मुम्बई।

A/903, Garden Estate, Laxmi Nagar,
Gore Gaon West, Mumbai

दाक्षिण्य-लज्जे गुरुदेवपूजा पित्रादिभक्तिः सुकृताभिलाषः।
परोपकारो व्यवहारशुद्धिः नृणामिहामुत्र च संपदे स्युः॥

सुभाषित पद्य रत्नाकर, 12.11

पूजनीय व्यक्तियों के प्रति सर्वदा नम्र और विनयशील रहना,गुरुजनों की पूजा करना, माता-पिता के प्रति भक्तिभावना, सर्वदा परोपकार के प्रति मन में लगाव रखना, यह सब व्यक्ति के लिये इस लोक तथा परलोक में सुखसम्पत्ति दायक तथा कल्याणकारी होता है।

स्व. श्री प्रभुदयाल जी

[जिनका दु:खद निधन 26.11.1992 को हुआ]

की
पुण्यस्मृति
में

श्री अशोक कुमार खेर

B.Com. (H), LL.B., FCA

सर्वश्री अशोक खेर एण्ड कम्पनी

(CHARTERED ACCOUNTANTS)

101, बी-14, मुखर्जी नगर कम्पलैक्स,
दिल्ली - 110 009.
की ओर से

यथा वृक्षस्य संपुष्पितस्य दूराद् गन्धो वाति।
एवं पुण्यस्य कर्मणो दूराद् गन्धो वाति॥

नारायणोपनिषद्, 2, 11

जिस प्रकार फूलों से युक्त वृक्ष चाहे कहीं भी हो उसके फूलों की सुगन्ध दूर-दूर तक फैल जाता है। इसी प्रकार दानादि पुण्य कार्य करने वाले व्यक्ति की सुगन्ध अर्थात् यश दूर-दूर तक फैल जाती है।

IN EVERLASTING MEMORY OF

LATE SH. PUSHAP KUMAR JAIN

(Expired on 19th Nov., 1980)

on his 35th Death Anniversary

Deeply remembered by :

RAVI KUMAR JAIN(Son)
NEENA JAIN (Daughter in Law)
VARUN JAIN (Grand Son)
SHEENA JAIN (Grand Daughter in Law)

AMIT JAIN (Grand Son in Law)
PRERNA JAIN (Grand Daughter)
Great Grand Children
ANANYA, VIBHAV, NAVYA & RIDIT

PHARMA CRAFTS (INDIA) "pushapkamal" Building
P.W.D. Rest House Road, Gagret - 177201, Distt., Una (H.P.)

SURGINEEDS
N.A.C. Building, Gagret - 177201, Distt., Una (H.P.)

SHREYANS INDIA
"Pragati Bhawan", Near S.D. City Public School, Chintpurni Road, Hoshiarpur - 146001, (Pb.) Cell No. : 85588-66155, 98886-91475

(संस्थान) सत्संग मन्दिर

वी. वी. आर. आई. सोसाईटी, होश्यारपुर (पंजाब) की ओर से प्रकाशक व मुद्रक
प्रो. इन्द्रदत्त उनियाल द्वारा वी. वी. आर. इन्स्टीच्यूट प्रैस, पो. आ. साधु-आश्रम,
होश्यारपुर से छपवा कर, वी. वी. आर. इन्स्टीच्यूट, पो. आ. साधु-आश्रम,
होश्यारपुर-१४६ ०२१ (पंजाब) से २८-१०-२०१५ को प्रकाशित।